प्राक्कथन

चिकित्सा के लिए चीर-फाड़ करने या जर्राही को शल्य-विज्ञान कहते हैं। जन साधारण को यह साधारण शब्द भी आज अज्ञात-सा ही है। हमने अपने सीमित अध्ययन तथा ऊहापोह से प्राचीन शल्यकारों, धन्वंतरि, सुश्रुत आदि की कीर्ति-गाथा से प्रारम्भ कर संसार के विभिन्न देशों या जातियों की इस संबंध की प्राचीन तथा मध्यकालीन जानकारी का वर्णन किया है। इन वर्णनों के पश्चात् आधुनिक युग के शल्य-विज्ञान का विवरण तथा महत्त्व उल्लिखित किया गया है। आयुर्वेद के छात्रों को नवीन शल्य-विज्ञान तथा संसार भर में इस विज्ञान के विकास की कहानी मनोरंजक ज्ञात होगी। साथ ही नवीन चिकित्सा-विज्ञान तथा शल्य-विज्ञान के विज्ञ पुरुषों को प्राचीन शल्य-यन्त्रों, शस्त्रों आदि के नाम तथा पुरातन शल्य-विज्ञान की कथा आह्लादकारी प्रतीत होगी। अतएव हमें आशा है कि पुराने तथा नवीन विचारों के सभी पाठक अपनी रुचि के अनुसार कुछ मनोरंजक, पठनीय तथा ज्ञातव्य सामग्री प्राप्त कर हमारे इस उद्योग को उपयोगी पाएँगे।

लेखक

विषय-सूची

भारतीय शल्य-विज्ञान

विज्ञान के विविध अंगों की आज असीम उन्नति देख कर हमारे हृदय में यह प्रश्न स्वभावतया उठता है कि क्या हमारे देश में भी कभी ज्ञान की उत्कट शोध-गंगा का अक्षुण्ण प्रवाह प्रवाहित रह सका होगा ? युग-युग के थपेड़ों ने हमारे देश का भाग्य-चक्र संसार के साथ ही इतने बहुल मार्गों में बरबस परिचालित किया कि आज उन पथों की धूमिल लीक भी सर्वथा विनष्ट ही हो गई है। सभ्यताओं का विकास होता है। परम उत्कर्ष काल आता है। पुन: अवसान काल आकर ऐसा सुदीर्घ अंधकारमय काल छाता है कि पूर्व कृतियों, सफलताओं, विद्याओं, विज्ञानों, कला-कौशलों आदि की बात विस्मृति के गर्भ में लीन-सी हो जाती है। अपने देश के सम्बन्ध में भी प्राचीन एवं मध्यकालीन इतिहास के छात्र अनेक भाग्य-चक्रों, उत्कर्ष, अपकर्ष काल के आवर्तनों, सभ्यता तथा संस्कृति के उन्मूलक अंधकारमय कालों तथा ज्ञानावरोधक अघट घटनाओं का उल्लेख पाते हैं। हम यहाँ पर उन अतीत काल की कथाओं की हठात् स्मृति दिला कर स्वदेशाभिमान के उन्नायक पुरुषों को मर्माहत करना नहीं चाहते। प्राचीन काल की विविध बाधाओं का अतिशयोक्तिपूर्ण चित्रण कर अत्यन्त सुदूर काल की किसी सर्वथा निर्दोष, परमउज्ज्वल, स्वर्णिम अवधि की भी क्लिष्ट कल्पना करना नहीं चाहते। हमारा तो केवल इतना ही बताना उद्देश्य है कि ज्ञान-विज्ञान की दिशा में भी भारतीयों ने जो कुछ सफलता पूर्वकाल में प्राप्त की थी,

उसका सम्यक निरूपण या मूल्यांकन आज कुछ कठिन समस्या ही हो सकती है, परन्तु दूसरी दिशा में भूतकाल की अभूतपूर्व सफलता का एक कल्पनातीत चित्र अंकित करना भी सर्वथा उचित नहीं कहा जा सकता है। सफलताएँ जितनी महान् रही हों, विद्याओं का मर्म जितना गम्भीर ज्ञात किया जा सका, विज्ञान की गर्भस्थली में मानव की जितनी भी अधिक पहुँच हो सकी हो उनको केवल इस कारण ही एक असीम गौरवान्वित तथा चरम उत्कर्षमय बताना कोई बुद्धिमानी नहीं कही जा सकती कि आततायियों ने समय-समय पर मनीषियों का बध कर दिया, महाविद्यालयों की जड़ खोद दी अथवा वृहद् पुस्तकालयों को ध्वस्त कर दिया।

यदि अपने देश के अतीत गौरव, प्राचीन वैभव एवं ज्ञान साधना के सम्बन्ध में मध्यवृत्ति से काम लेकर ही अपनी धारणा बनाएँ तो हमारी कोई भी हानि नहीं। अपनी पूर्व सभ्यता के सम्बन्ध में यदि हम यह विश्वास न रक्खें तो कोई भी हानि नहीं कि हम भारतीयों ने ही सर्वप्रथम सभ्यता की परिवृद्धि की और पृथ्वी के किसी अन्य भाग के मानवों को इस उषःकाल को सर्वप्रथम देखने का अवसर ही प्राप्त न हो सका। यदि हम अपनी यह धारणा रखने में ही प्रसन्नता का अनुभव करें कि सभ्यता के उदयकाल में हम सब के अग्रणी थे किन्तु आज पतनोन्मुख रह कर विश्व भर में पिछड़े देशों में ही अपनी गिनती करा सकने में समर्थ हैं तो उस विचार धारा के प्रवर्तकों से हमारा कोई विवाद नहीं। यदि हमारा अटल विश्वास इसी मत में हो कि हम भारतीय ही विश्वनियंता के परम लाड़ले रहे हैं तथा समस्त सृष्टि के अन्य भूभागों के मानव-विधाता के सौतेले पुत्र तथा दुर्भाग्यग्रस्त प्राणी ही रहे हैं जिससे हमी को विश्व में उत्कर्ष करने का सब से पूर्व तथा सबसे अधिक अवसर प्राप्त हुआ तो इस मधुर कल्पना के अनुयायिओं के मिथ्या विश्वास

को भी टालने का प्रयत्न व्यर्थ हो सकता है। कल्पना की तो कोई सीमा नहीं होती, कोई निर्धारित संकीर्ण पथ नहीं होता। अतएव जहाँ सत्य का अंश हमारी अभिज्ञता से सर्वथा अलंघ्य है और केवल कल्पना के क्षेत्र का ही विषय है, वहाँ कोई भी अतिशयोक्तिपूर्ण धारणा सहज ही स्थान पा सकती है।

यह तो हुई धारणाओं की बात, परन्तु जहाँ तक ठोस सत्य या उसकी खोज का प्रश्न है, हम शोधकर्ताओं द्वारा प्रामाणिक वक्तव्य या विवरण विभिन्न अवसरों पर विभिन्न विषयों के सम्बन्ध में पाते रहते हैं। विज्ञान के क्षेत्र में भी भारतीय सफलताओं का मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया जा रहा है। विज्ञान के व्यावहारिक पक्ष को तो हम अपने दैनिक जीवन में भी पूर्व सफलताओं के स्मरण दिलाने के रूप में पाते हैं। चिकित्सा विज्ञान भी ऐसा ही उपयोगी विषय है जिसकी पूछ बराबर ही होती रह सकती है। उसके उत्कृष्ट रूप का लोप समय के थपेड़ों से भले ही हो गया हो परन्तु उसकी व्यावहारिकता आज भी उसका रूप रक्षित रख सकने में समर्थ पाई जा सकती है। प्राचीनतम साहित्य में उसका कुछ न कुछ उल्लेख भी इसी कारण हमें प्राप्त होता है।

चिकित्सा-विज्ञान पर जब हमारी दृष्टि जाती है तो यह बात हमारे ध्यान में आती है कि जादू, टोना, मंत्र-तंत्र आदि के ही अंधविश्वास से ऊपर उठ कर मनुष्य को जब कुछ अधिक विवेक प्राप्त करने का अवसर प्राप्त हुआ होगा तब प्रत्येक सभ्य जाति को चिकित्सा-विज्ञान का जन्म देने की अवश्य आवश्यकता पड़ी होगी। प्राचीन काल में एक देश या भू-भाग से दूसरे भू-भागों तक पहुँच सकने में दुर्गम पथों की कठिनाई से मनुष्य-जाति को अपने क्षेत्र में अपनी ही ज्ञान-शक्ति से कुछ साधन प्राप्त करने में सफलता मिल सकी होगी जो उनको रोगों से मुक्ति दिलाने या प्राण-रक्षा में समर्थ

हो सकते हों। उन साधनों में कब किस देश ने क्या सफलता पाई या उसका प्राचीन काल में क्या-क्या रूप था उसे आज बता सकना तो असंभव बात ही है, परन्तु आज भी हम विभिन्न चिकित्सा-पद्धतियाँ संसार में प्रचलित पाते हैं। उनमें भारतीय चिकित्सा-पद्धति भी एक है जिसे आयुर्वेद नाम दिया जाता है। भारतीय चिकित्सा-पद्धति या आयुर्वेदीय चिकित्सा-पद्धति की पूर्व कहानी बताने का प्रयत्न कितने ही विज्ञ पुरुषों ने किया है। संक्षेप में हम यही कह सकते हैं कि भारतीयों ने अन्य विद्याओं के साथ आयु की रक्षा और वृद्धि संबंधी ज्ञान को वेद की श्रेणी में रखने का उद्योग किया था अथवा 'वेद' शब्द का अर्थ हम 'ज्ञान' लें तो साधारण रूप से आयुर्वेद का अर्थ आयुर्विज्ञान या चिकित्सा-विज्ञान कह सकते हैं। कुछ भी हो, हम इस विज्ञान की चर्चा तो प्राचीनतम ग्रंथों में पाने की बात सुनते हैं, किंतु आज यह कहना बड़ा ही कठिन है कि किन महर्षियों या मनीषियों ने किस समय इस विज्ञान का आविर्भावकर शास्त्र या विज्ञान का रूप दिया। हमें कुछ प्राचीन नाम अवश्य सुनने को मिलते हैं परन्तु उनके मूल ग्रंथों का न तो कहीं ठीक पता ही चलता है और न यही ज्ञात होता है कि ज्ञान का कितना उत्कर्ष हो सका था। कुछ ग्रंथ या अंश हमें प्राचीन ऋषियों के नाम पर मिलते भी हैं तो वे या तो बिल्कुल अधूरे, प्रक्षिप्त या भ्रष्ट रूप में रह कर उन मूल रचयिताओं की ख्याति के अनुरूप सिद्ध नहीं होते। अतएव उस समय की चिकित्सा-पद्धति का मूल्यांकन संभव नहीं।

सबसे प्राचीन चिकित्सा-शास्त्रियों में अत्रि मुनि का नाम लिया जाता है। अत्रि संहिता नामक चिकित्सा-ग्रंथ के वे रचयिता कहे जाते हैं। उनके छः शिष्यों ने भी चिकित्सा-ग्रंथ लिखे। इन शिष्यों के नाम अग्निवेश, भेल, जतूकर्ण, पाराशर, क्षारपाणि तथा हारीत

थे। इनके नाम से संहिताएँ प्रसिद्ध थीं। खरनाद तथा विश्वामित्र के नाम की संहिताएँ भी चिकित्सा-ग्रंथ थीं, परन्तु कदाचित् उपर्युक्त सभी संहिताएँ विनष्ट हो गईं। कहा जाता है कि केवल अग्निवेश संहिता ही परिवर्तित रूप में सुलभ है जिसे चरक ने संशोधित तथा परिवर्धित कर अपने नाम से प्रसिद्ध किया था, परंतु चरक रचित संहिता का भी दृढ़बल नाम के किसी चिकित्सा-शास्त्री ने प्राचीन काल में पुनः परिष्कार तथा परिवर्धन किया और वही परिष्कृत रूप आज चरक संहिता नाम से सुलभ है।

चरक का नाम जहाँ औषधि-विज्ञान या काय-चिकित्सा में है, वहाँ सुश्रुत का नाम शल्य-चिकित्सा में अत्यन्त प्रसिद्ध है। सुश्रुत का काल-निर्णय तो बड़ा कठिन प्रतीत होता है, परंतु उसका विवरण प्राप्त होता है। काशिराज दिवोदास प्रथम भारतीय शल्यशास्त्री कहे जाते हैं जिनका दूसरा नाम धन्वंतरि प्रसिद्ध है। सुश्रुत संहिता में धन्वंतरि के मुख से निकला निम्न श्लोक उनके परिचय के लिए उल्लिखित है:—

अहं हि धन्वन्तरिरादि देवो जरारुजामृत्युहरोऽमराणाम्।
शल्याङ्गमङ्गैरपरैरुपेतं प्राप्तोऽस्मि माँ भूय इहोपदेष्टुम्॥

सू० सू० १ सू० २१

"देवताओं की वृद्धावस्था, रोग तथा मृत्यु को दूर करने वाला आदि देव धन्वन्तरि मैं हूँ। आयुर्वेद के अन्य अंगों सहित शल्य-तन्त्र का उपदेश करने के लिए फिर से इस पृथ्वी पर आया हूँ।"

इसी प्रसिद्ध नाम के गुरु का शिष्यत्व सुश्रुत ने ग्रहण किया था। धन्वन्तरि के शिष्यों में सुश्रुत के अतिरिक्त उपधेनव, औरभ्र, पुष्कलावत, गोपुररक्षित तथा भोज भी थे। इनके नाम से तन्त्र या चिकित्सा-ग्रंथ प्रसिद्ध थे। सुश्रुत का नाम महाभारत में मिलता है जिसमें उन्हें विश्वामित्र का पुत्र कहा गया है।

महाभारत में लिखा है :—

श्यामायमानोऽथ भार्ग्यश्च जावालि सुश्रुतस्तथा।
विश्वामित्रात्मजा सर्वे मुनयो ब्रह्मवादिनः ॥

अनुशासन पर्व

श्यामायमान, भार्गी, जावालि, तथा सुश्रुत बिश्वामित्र के पुत्र थे तथा ये सभी बड़े ज्ञानी थे।"

शतपथ ब्राह्मण में भी सुश्रुत का उल्लेख है। इनसे यह स्पष्ट होता है कि ईसा के कम से कम ६०० वर्ष पूर्व सुश्रुत किसी समय हुए होंगे। आज की सुलभ सुश्रुत संहिता में इसका उल्लेख मिलता है कि सुश्रुत के अतिरिक्त काशीराज दिवोदास के दूसरे अनेक प्रसिद्ध शिष्य भी चिकित्साशास्त्री थे।

अथ खलु भगवन्तममर वरमृषिगण परिवृतमाश्रमस्थं काशिराजं दिवोदासं धन्वन्तरिमौपधेनव वैतरणौरभ्रपौष् कलावत करवीर्यं (र) गोपुररक्षित सुश्रुतप्रभृतयः ऊचुः।

सुश्रुत सू० अ० १ सू २

"देवताओं में श्रेष्ठ, ऋषियों के समूह से घिरे, वानप्रस्थाश्रम में रहते हुए--काशीराज, भगवान दिवोदास धन्वन्तरि को औपधेनव, वैतरण, औरभ्र, पौष्कलावत, करवीर्य, गोपुररक्षित और सुश्रुत आदि ऋषियों ने पूछा।"

बौद्ध काल में आयुर्वेद की यथेष्ट उन्नति हुई थी। नालंद तथा तक्षशिला विद्यापीठों में दर्शन या तर्कशास्त्र (हेतु शास्त्र) तथा चिकित्सा-शास्त्र नाम के दो विभागों के अध्ययन की व्यवस्था थी। बौद्ध सम्राट् अशोक तथा बिम्बसार द्वारा चिकित्सा-विज्ञान के प्रचुर प्रश्रय का प्रमाण मिलता है। जीवक (कौमारभृत्य उपनाम) का

प्रसिद्ध चिकित्सक बिम्बसार का राजवैद्य था। जीवक तथा उसके गुरु अत्रेय को स्वयं गौतम बुद्ध की सेवा में रहने का उल्लेख मिलता है। इन्हीं बौद्ध चिकित्सकों में कालांतर में हम वाग्भट नामक प्रसिद्ध चिकित्सा-शास्त्री का नाम सुनते हैं जो सिंध का निवासी था तथा पाँचवीं या छठीं शताब्दी (ईसा के बाद) में हुआ था। उसके दो ग्रंथ "अष्टांग हृदय" तथा "अष्टांग संग्रह" आज भी आयुर्वेद के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि पाँचवीं या छठीं ईस्वी में वाग्भट ने आयुर्वेद के वेगपूर्वक ह्रास होने का लक्षण देख कर समस्त सुलभ ग्रंथों का ज्ञान अपने ग्रंथों में सञ्चित करने का भगीरथ प्रयत्न किया।

बौद्ध चिकित्साशास्त्रियों में नागार्जुन भी अति प्रसिद्ध हैं। इस नाम के तीन प्रसिद्ध व्यक्तियों का पता लगता है। अतएव काल-निर्णय कठिन-सा है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि ये तीनों एक ही प्रसिद्ध व्यक्ति के रूप थे या वे पृथक्-पृथक् व्यक्ति थे। कुछ विद्वानों का विश्वास है कि वर्तमान सुश्रुत संहिता नागार्जुन द्वारा ही परिष्कृत और संशोधित रूप है। इतना तो निश्चित ही है कि मूल ग्रंथ "वृद्ध सुश्रुत" नाम से प्रसिद्ध था जिसके कितने ही उद्धरण अन्य ग्रंथों में हमें ऐसे मिलते हैं जिनको वर्तमान सुश्रुत संहिता में नहीं पाया जाता। अतएव वर्तमान ग्रंथ अवश्य ही परिवर्तित तथा परिष्कृत संस्करण है।

सुश्रुत संहिता के नेत्र, कर्ण, नासिका तथा कंठ के रोगों के सम्बन्धी अंशों को उसके परिष्कर्त्ता ने विदेह रचित चिकित्सा ग्रंथ (विदेह तन्त्र) से अधिकांश ले लिया है। कहा जाता है कि इन रोगों के सम्बन्ध में निमि, काङ्कायन, गार्ग्य तथा गालव तन्त्रों को किसी समय विद्यमान पाया जा सकता था, परन्तु वे सब लुप्त हो गये हैं। जीवक, पार्वतक, हिरण्याक्ष संहिताएँ भी कभी रहीं, पशु-

रोगों की पालकाय संहिता का भी नाम था। परन्तु वे सब बिल्कुल ही लुप्त हो गई हैं। किन्तु डल्लन, चक्रपाणि, विजयरक्षित तथा श्रीकान्त आदि विख्यात भाष्यकारों ने अपने भाष्यों में इन पुराने ग्रंथों का नामोल्लेख तथा उद्धरण देकर उनकी स्मृति मात्र ही हम लोगों के सम्मुख छोड़ रखा है। इन परिस्थितियों में आयुर्वेदीय चिकित्सा की यथार्थ सफलता या उन्नति का निरूपण कठिन कार्य ही हो गया है।

चिकित्सा-साहित्य की दुर्लभता का हम जहाँ इतना प्रमाण पाते हैं, वहाँ शल्य-चिकित्सा की स्थिति तो और भी दयनीय होती दिखाई पड़ती है। हम इसका स्पष्ट उल्लेख पाते हैं कि बौद्धकाल में विख्यात सम्राटों ने लोक-कल्याण के कार्यों का विस्तार कर चिकित्सा-विज्ञान का भी यथेष्ट पोषण किया। परन्तु जहाँ औषधि विज्ञान की इस प्रकार वृद्धि हुई वहाँ इन्हीं लोक-कल्याणकारी सम्राटों द्वारा शल्य विज्ञान का लोप भी हुआ। कारण तो समझने में हमें विशेष कठिनाई हो ही नहीं सकती। बौद्ध धर्म का आदर्श सिद्धान्त अहिंसाव्रत था। अहिंसा की उधेड़-बुन में सत्य का प्राण ही घुट सका। इसकी मिथ्या धारणा ने शवच्छेद कार्य पर अवरोध लगा कर प्रयोगात्मक शल्य-विज्ञान की समाधि ही खोद दी। अशोक के शिलालेखों में शव के चीर-फाड़ का स्पष्टतः निषेध पाया जाता है। अतएव इसमें आश्चर्य ही क्या कि शल्य-विज्ञान का कालान्तर में लोप-सा ही हो गया। परन्तु यह भ्रान्त धार्मिकता अथवा अंधविश्वास केवल हमारे देश की ही विशेषता नहीं कही जा सकती, विदेशों में भी इसकी ठीक पुनारावृत्ति पाते हैं। चिकित्सा-शिक्षण के इतिहास में डा० पुशमैन ने उल्लेख किया है कि योरप में भी शव के चीर-फाड़ का मध्ययुग में सर्वथा निषेध हो गया था जिसका कारण केवल धर्म-रक्षा की भ्रान्त भावना थी। इन परिस्थितियों में जो शल्य-विज्ञान

के शोधकर्त्ता चिकित्सक होते वे अपने परीक्षण के लिए शव को साधारण रूप में प्राप्त करने में असमर्थ होकर चोरी से ही उसे मँगा लेते। इटली में हम तेरहवीं शताब्दी के निकट शवच्छेद की बात सुनते हैं। बोलोना में यह परीक्षण होता था। वेनिस की नगर सभा ने १३६८ में वर्ष भर में एक बार शवच्छेद की आज्ञा प्रदान की थी जो धर्मान्धता के वातावरण में उदार विचारों का एक तुच्छ उदाहरण है।

शल्य-चिकित्सा के निषेध में स्वयं भगवान बुद्ध का भी नाम लिया जाता है। बौद्ध ग्रंथों में उल्लेख है कि भगवान बुद्ध के समय में अश्वघोष नामक राजवैद्य ने भगंदर रोग के शमन के लिए शल्य क्रिया की सहायता ली थी परन्तु बाद में भगंदर का प्रकोप नर्म चमड़े के स्थान पर होने के कारण वहाँ शल्य क्रिया का प्रयोग निषिद्ध कर दिया। राजा बिम्बसार भगंदर रोग से जब पीड़ित हुआ तो बुद्ध की निषेधाज्ञा का अनुसरण कर राजवैद्य जीवक ने उसे शल्य क्रिया से निरोग करने के स्थान पर प्रलेपों से ही काम लेकर सफलता प्राप्त की। एक दूसरी बौद्ध कथा भी प्रसिद्ध है। किसी समय राजगृह में वेलुवन में बुद्ध निवास कर रहे थे। भ्रमण करते हुए वे एक भिक्षु संघ में जा पहुँचे जहाँ एक भगंदर रोगग्रस्त भिक्षु को एक शल्य-चिकित्सक शल्य क्रिया द्वारा रोगमुक्त करने का प्रयत्न कर रहा था। बुद्ध ने अपने आश्रम में रोगी तथा चिकित्सक दोनों की ही इस चिकित्साविधि के लिए भर्त्सना की। मल द्वार के निकट शल्य क्रिया के लिए यह निश्चित निषेधाज्ञा थी।

शल्य-क्रिया के बुद्ध-द्वारा आंशिक निषेध तथा शवच्छेदन के लिए अशोक द्वारा पूर्णत: निषेध आज्ञा देख हम बौद्ध धर्मावलंबियों को कोस सकते हैं। हमें कालान्तर में शल्य-विज्ञान के सर्वथा लोप-सा हो जाने की स्थिति भी मिलती है। परन्तु धार्मिक रूढ़ियाँ एक

सम्प्रदाय या वर्ग की ही देन नहीं होतीं, फलत: हम हिन्दू शास्त्रकारों को भी ऐसी निषेधाज्ञा प्रचारित करते पाते हैं। शंकराचार्य को जब भगंदर रोग हुआ तो वैद्यों को शल्यकर्म की अनुमति नहीं दी गई थी तथा औषधि चिकित्सा द्वारा ही उपचार हुआ था। मनु ने तो शवच्छेदन क्रिया को ही अविहित घोषित कर दिया था एवं शल्य-क्रिया को भी कुछ सीमित नियमों के अंतर्गत ही परिचालित रह सकने का विधान बताया था। अतएव इन बंधनों से शल्यकर्म के प्रति घृणा तथा उपेक्षा उत्पन्न होना सर्वथा स्वाभाविक बात ही हो सकती थी। यही कारण था कि शल्यकर्म को एक हीन तथा जघन्य कर्म समझ कर निम्न वर्ग के लोग ही इसमें हाथ लगाते थे। अतएव इसमें आश्चर्य ही क्या जो हम आज नाई तथा जर्राहों को ही केवल अपने पैत्रिक शिक्षण एवं अनुभवों के आधार पर ही फोड़ों को चीर कर शल्य-विज्ञान को केवल जर्जरित अवस्था में विद्यमान रखते पाते हैं।

हमारे मन में यह स्वभावत: उत्सुकता होती है कि शल्य कर्म का अवसान जहाँ अनेक कारणों से हो सका, वहाँ क्या उन्नति की सीमा ज्ञात करने की कुछ युक्ति नहीं हो सकती? इसके लिए अनेक विद्वानों ने मूल्यांकन करने के लिए पुराने साहित्य की खोजबीन की है। प्राचीन ग्रंथों में भोज संहिता में शरीर विज्ञान तथा शल्यकर्म के वर्णन होने के अप्रत्यक्ष प्रमाण संग्रह करने के लिए विद्वानों ने इस पुस्तक की अनुपस्थिति में डल्लन तथा चक्रपाणि के प्राचीन भाष्यों में इतने अधिक उद्धरणों को भोज संहिता से उद्धृत ज्ञात किया है तथा उन उद्धरणों में इतने अधिक विभिन्न विषयों का वर्णन देखा है कि संग्रह कर ही उनसे शल्य-विज्ञान तथा शरीर विज्ञान की एक पुस्तक ही प्रस्तुत की जा सकती है।

वेदों में भी औषधि विज्ञान तथा शल्य चिकित्सा का समावेश

पाया जाता है। यों तो आयुर्वेद को वेदों का ही समकक्ष या पंचम वेद नाम दिया गया है, परन्तु इसे उपांग रूप में भी वेदों से सम्बद्ध कहा जाता है। औषधि विज्ञान की विशेष चर्चा ऋग्वेद में होने से औषधि विज्ञान के प्रवर्तक अग्निवेश ने इसे ऋग्वेद का उपांग घोषित किया किन्तु शल्य विज्ञान की विशेष चर्चा अथर्ववेद में ही है, अतएव सुश्रुत शल्य-विज्ञान को अथर्ववेद का उपांग मानता है।

इह खलु आयुर्वेदो नाम यदुपांग अथर्ववेदस्य

सु० सू० अ० सू ६

रामायण में तो औषधि बल से नवजीवन संचार के लिए लक्ष्मण की चिकित्सा होने की बात सुनी जाती है। परन्तु महाभारत में युद्ध की तैयारी में हम वैद्यों के अतिरिक्त शल्य-चिकित्सकों को चिकित्सा उपकरण के साथ जुटाने का उल्लेख पाते हैं। सेना में वेतनभोगी शल्य-चिकित्सक रखने का विधान हमें प्राप्त होता है। भीष्म के शरशय्या पर आसीन होने पर विद्ध बाणों को निकालने के लिए शल्य-चिकित्सकों के पहुँचने की बात उल्लिखित मिलती है। परन्तु धन देकर उन शल्य-चिकित्सकों को उल्टा वापस कर देने की भी कथा प्रचलित है।

उपतिष्ठन्नधो वैद्याः शल्योद्धरण कोविदः
सर्वोदक दर्पैयुक्ता कुशलैः साधु शिक्षिता।

महाभारत भीष्मपर्व

इन बातों से ज्ञात होता है कि शल्य चिकित्सा अज्ञात वस्तु उस समय नहीं थी। शल्य-विज्ञान की महत्ता को हम औषधिविज्ञान के विशेषज्ञ चरक द्वारा भी स्वीकार करते पाते हैं। धन्वन्तरि के शिष्यवर्ग से उसने शल्य चिकित्सा सम्बन्धी सहायता प्राप्त करने का आह्वान किया है :—

तत्र धान्वन्तरीयाणामधिकारः क्रिया विधौ
वैद्यानां कृत वेध्यानां व्याध शोधन रोहणे ॥

चि० गुल्म

शल्य-विज्ञान का एक पुष्ट प्रमाण ऋग्वेद में प्राप्त होता है जिसमें कटे हुए हाथ-पैर के स्थान पर कृत्रिम धातु निर्मित अंग के उपयोग की बात उल्लिखित है :—

चरित्रं हि वेरिवाच्छेदि पर्णम्
आजा खेलस परितक्म्यायां।
सद्योजंघा मायसीं विशपलायै
धने हिते सर्तवे प्रत्यधजम् ॥

(ऋग्वेद प्र० मं० १५ अ ११६ सू)

सायणाचार्य ने इसकी टीका कर दो अश्विनीकुमारों की विचक्षणता का उल्लेख किया है जो बड़े ही कुशल शल्यकर्मी थे। खेली नामक कोई राजा अगस्त्य मुनि का शिष्य था। खेली की कोई सम्बन्धिनी विशपला नाम की स्त्री का पैर किसी संग्राम में शत्रु द्वारा काट लिया गया था। अगस्त्य की अभ्यर्थना पर रात को ही अश्विनीकुमारों ने आकर लोहे का पैर कृत्रिम रूप से लगा दिया:—

अगस्त्य पुरोहितः खेली नाम राजा तस्य संबंधिनी विशपला नाम स्त्री, संग्रामे शत्रुभिः छिन्न पदा आसीत् पुरोहितेन अगस्त्येन स्तुतौ अश्विनौ रात्रौ आगत्य अयोमयं पादं समदधात्। इत्यादि (सायणाचार्य टीका) सुश्रुत संहिता में भी लिखा है:—

एतद्धयङ्गं प्रथमं, प्रागभिघातव्रण संरोहाद्यज्ञशिरः सन्धानाच्च। श्रूयते हि यथा "रुद्रेण यज्ञस्य शिरश्छिन्नमिति, ततो देवा अश्विनावभिगम्योचुः—भगवन्तौ नः श्रेष्ठतमौ युवां भविष्यथ, भवद्भ्यां

दक्षस्य शिरः सन्धातव्यमिति । तावूचतुरेवमस्त्विति । अथ तयोरर्थे देवा इन्द्रं यज्ञभागेन प्रासादयन । ताभ्यां यज्ञस्य शिरः संहितम् इति ।

सु० सू० अ० १ सू० १७

"आयुर्वेद के आठ अंगों में शल्य अंग ही प्रधान है क्योंकि देवासुर संग्राम में व्रणोत्पत्ति के रोहन होने (घाव भर आने) से और यज्ञ का सिर जोड़ने के कारण यह शल्य तंत्र प्रधान है । ऐसा सुना जाता है कि रुद्र ने यज्ञ का सिर काट दिया था, तब देवताओं ने अश्विनीकुमारों के पास जाकर कहा कि "आप दोनों दक्ष का सिर जोड़ दें ।" इस प्रकार करने से आप हम में अति श्रेष्ठ होंगे । अश्विनों ने कहा कि—अच्छा ऐसा ही हो । तब देवताओं ने इन अश्विनीकुमारों के यज्ञ भाग के लिए इन्द्र को प्रसन्न किया । अश्विनीकुमारों ने दक्ष का सिर जोड़ दिया ।

हमें अश्विनीकुमारों द्वारा केवल इतना ही कौशल प्रदर्शित करने का उल्लेख नहीं मिलता, बल्कि कटे हुए सिर को जोड़ने तक का यश भी उन्हें प्रदान किया जाता है । इसमें सत्य का अंश कितना है, इसे आज कह सकना कठिन है परन्तु तैत्तिरीय संहिता तो हमें आज भी यह सन्देश निम्न शब्दों में पहुँचाती है:—

अश्विनाव ब्रुवन भिषजौ रैस्व इंद दक्षस्य शिरः प्रतिधत्तमिति तावद्ब्रूतां वरं वृणवहे ग्रह एव नावत्रापि गृह्यतामिति ताभ्यामेतयाश्वित भगृन्त हन्तो वैदक्षस्य शिरः प्रत्यधत्ताम ।

तैत्तिरीय सं० ६।४।७

चरक में भी उल्लेख है :—

अश्विनौ देव भिषजौ यज्ञ वाहाविति स्मृतौ ।
दक्षस्य हि शिरच्छिन्न पुनस्ताभ्यां समाहितम् ।।

—चरक सं०

आयुर्वेद के आठ अंग कहे गए हैं—(१) शल्य तन्त्र, (२) शालाक्यतन्त्र, (३) काय चिकित्सा, (४) भूत विद्या, (५) कौमार भृत्य, (६) अगदतन्त्र, (७) रसायनतन्त्र और (८) वाजीकरण। इनमें पहला चीर-फाड़ आदि की चिकित्सा कह सकते हैं। दूसरा तन्त्र गले के ऊपर आँख, कान, नाक आदि के रोगों के सम्बन्ध में है। इन रोगों में शलाका (सलाई) का आँख में अंजन लगाने, कान की मैल निकालने आदि की भाँति अन्य कार्यों में उपयोग होने से इसका शालाक्य तन्त्र नाम है। तीसरी औषधि चिकित्सा है। मन्त्र-तन्त्र भी एक अंग माना गया है। कौमार भृत्य को हम शिशुपोषण विज्ञान कह सकते हैं। अगद तन्त्र को विष चिकित्सा कहना उचित है। विषैले जंतुओं के काटने या अन्य विषों की चिकित्सा इसमें सम्मिलित है। आयु तथा बलवृद्धि के लिए रसायन तन्त्र है। वाजीकरण भी चिकित्सा का अंग ही है। परन्तु इन अष्टांगों में शल्य तन्त्र प्रमुख माना गया है।

अष्टास्वपि चायुर्वेदतन्त्रेष्वेतदेवाधिकमभिमतम्
आशुक्रिया करणाद्यन्त्रशस्त्र क्षाराग्निप्रणिधानात्
सर्व तन्त्र सामान्याच्च ॥

सु० सू० अ० १ सू० १८

"आयुर्वेद के आठ तंत्रों में यह शल्यतंत्र ही सबसे अधिक मान्य है। क्योंकि यन्त्र, शस्त्र, क्षार और अग्नि प्रयोग में शीघ्र क्रिया करने के कारण तथा शालाक्य आदि तन्त्रों में सबसे सामान्य है।"

इसी कारण कहा है :—

तदिदं शाश्वतं पुण्यं स्वर्ग्यं यशस्यमायुष्यं वृत्तिकरं चेति।

सु० सू० अ० १ सू० १६

"यह शल्यशास्त्र शाश्वत्, पुण्य का निमित्त, स्वर्ग के लिए मंगलकारी, यश का साधन, आयु के लिए हितकारी और जीविका का साधन है।"

चिकित्सा-शास्त्र में पारंगत कुशल वैद्य की सफलता देख कर हम कह उठते हैं कि साक्षात् धन्वंतरि का ही अवतार है। परन्तु हम यह भूल जाते हैं कि धन्वन्तरि नामक महावैद्य की प्रसिद्धि औषधि-चिकित्सा के लिए नहीं, वलिक शल्य-चिकित्सा के लिए ही है। यथार्थ में तो धन्वन्तरि शब्द का अर्थ ही शल्यकर्मी या शल्य-वैज्ञानिक है और इस अर्थ में कभी इस शब्द का प्रयोग भी होता था। धन्व का शाब्दिक अर्थ शल्य-विज्ञान है और जो इस विद्या का अंत पा गया हो उसे धन्वन्तरि कहा जाना चाहिये। डल्हण ने अपनी टीका में धन्वन्तरि का अर्थ किया है :—

"धन्वं शल्य शास्त्रं तस्यान्तं पारम् इयति गच्छति इति धन्वंतरिः" (डल्हण)। चरक ने भी औषधि-चिकित्सा की कार्य-सीमा समाप्त होने पर शल्यकर्मी का ही चिकित्सा कार्य होने पर लिखा है कि इसके आगे धन्वन्तरियों (अर्थात् शल्य-शास्त्रियों) का कार्य है जैसे—"अतः परंच कर्म धान्वन्तरीयाणाम्।"

शल्य विज्ञान के उपकरणों, शस्त्रों आदि का सुश्रुत, वाग्भट आदि ने जैसा बिशद वर्णन दिया है उनका विवरण स्वतंत्र पुस्तक का ही स्थान ले सकता है। उनके पशु-पक्षियों आदि के विचित्र अंगों या रूपों के अनुरूप आकार बनाकर उनकी उपयोगिता अधि-काधिक करने के उद्योग का वर्णन मिलता है। सुश्रुत ने यंत्रों की १०१ संख्या बताते हुए यह भी प्रदर्शित किया है कि यंत्रों की अपेक्षा उनके उपयोग में अनुभवी व्यक्ति का हस्तकौशल मुख्य वस्तु कही जा सकती है।

यन्त्र शतमेकोत्तरम्; अत्र हस्तमेव प्रधानतमम्
यन्त्राणामवगच्छ, (किं कारणं ?
यस्माद्धस्तादृते यन्त्राणामप्रवृत्तिरेव)
तद्धनीत्वाद्यंत्रकर्मणाम् ॥ ३ ॥ (सु० सू० अ० ७)

अर्थात् "यंत्र १०१ हैं। उनमें हाथ मुख्य (प्रधानतम) है (क्यों ? इसलिए कि हाथ के बिना यंत्रों का परिचालन नहीं हो सकता) यंत्रों के प्रयोग हाथ के ही अधीन हैं।"

यन्त्रों के विविध रूपों को आवश्यकता तथा अनुभव के अनुसार प्रस्तुत करने का उल्लेख वाग्भट ने निम्न शब्दों में कर शल्य-चिकित्सकों को अपना अनुभव तथा शोध-कार्य की महत्ता प्रकट की है :—

अनेक रूपकार्याणि यन्त्राणि विविधान्यतः।
विकल्प्य कल्पयेद् बुद्धया यथास्थूलन्तु वक्ष्यते ॥

अ० हृ० सू० अ० २५

"यन्त्र अनेक रूपों और उपयोगों के कारण अनेक प्रकार के होते हैं। अतः शस्त्रकर्मज्ञ वैद्य आवश्यकतानुसार विविध रूप से कल्पना करके उन्हें बनवावें।"

सुश्रुत ने निम्न श्लोक में भी शल्य-चिकित्सकों को अपना अनुभव बढ़ाने का आह्वान किया है :—

प्रयोगस्य वैद्यस्य सिद्धिर्भवति नित्यशः।
तस्मात् परिचयं कुर्याच्छस्त्राणां ग्रहणे सदा ॥ ८ ॥

(सु० सू० अ० ८)

"अर्थात् प्रयोग करते रहने वाले वैद्य को सदा ही सफलता मिलती है। अतः शस्त्रों के पकड़ने वा प्रयोग करने का नित्य अभ्यास करता रहे।"

यदि रोगी डरपोक या शिशु हो या उपकरण का ही अभाव हो तो उस स्थिति में बाँस आदि सस्ते उपकरणों से ही कार्य लेने की युक्ति भी सुश्रुत ने उल्लिखित कर इस विषय के व्यापक प्रचार को प्रकट किया है :—

शिशूनां शस्त्रभीरूणां शस्त्राभावे च योजयेत ।
त्वक्सारादि चतुर्वर्गं छेद्ये भेद्ये च बुद्धिमान् ॥ १६ ॥

"जब शस्त्र न मिले, वा शिशु या चीरफाड़ के उपकरणों से भय खाने वाला रोगी हो तो बुद्धिमान वैद्य बाँस (त्वक्सार) आदि चार वर्ग के पदार्थों का उपयोग करे।"

इनको अनुशस्त्र नाम देकर शल्य उपकरणों के साथ वर्णन पाया जाता है। बाँस के फटे खंड के किनारे चीरने के काम आ सकते हैं, तीली टूटी हड्डियों के ऊपर खपाची बाँधने के काम आ सकती है। इसी प्रकार अन्य सुलभ वस्तुओं का भी उपयोग किया जा सकता है।

सुश्रुत ने शल्य-चिकित्सकों को अपना अनुभव बढ़ाने के लिए शव के चीर-फाड़ करने का उपदेश दिया है। इसके लिए जो मृत शरीर चुना जाता था वह ऐसा होता था जिसके सभी अंग पूर्ण हों तथा बहुत अधिक सड़ा या संक्रामक रोग या विषपान से मृत न हो। शव को घास-पात-कुश आदि से ढक दिया जाता और किसी नदी के तट पर पानी में रख दिया जाता। तीन दिन के पश्चात त्वचा पर मृदुल कूची फेर कर त्वचा की बाह्य तथा अंतर्गत रचना को देखा जाता। त्वचा हटाने पर मांस पिंड या पेशियों की रचना का ज्ञान प्राप्त किया जाता। इसके बाद रक्त-नालियों तथा वात-नाड़ियों का ज्ञान प्राप्त किया जाता। चाणक्य (कौटिल्य) रचित अर्थशास्त्र में हम सन्देहपूर्ण अवस्था में मृत व्यक्तियों के शव की चीर-फाड़ की परीक्षा करने का विधान पाते हैं। कौटिल्य का ही नाम चाणक्य था जो चंद्रगुप्त मौर्य का प्रधान आमात्य था। ईसा के पूर्व चतुर्थ शताब्दी में उसका कार्य-काल था। अतएव हम उस समय तक शल्य-चिकित्सा का महत्त्व तथा प्रचार अक्षुण्ण पाते हैं, परंतु कालांतर में स्थिति बहुत ही हीन हो गई।

प्राचीन ग्रंथों में शारीर-विज्ञान के संबंध में शारीर पद्मिनी नामक एक ग्रंथ लगभग १००० ई० में लिखा गया था किंतु उस समय तक तो शवच्छेदन को सर्वथा ही भूला जा चुका था और कपोल-कल्पना के आधार पर मौखिक तर्क-वितर्क की ही चलन रह गई थी। अतएव इसमें व्यावहारिक पक्ष बहुत ही असंतोषजनक पाया जा सकता है। किंतु यह ग्रंथ ही नहीं, बल्कि चरक, सुश्रुत संहिता नाम से प्रसिद्ध आधुनिक संग्रह-ग्रंथों तथा उनके बाद के सभी चिकित्सा-ग्रंथों में वास्तविकता से अत्यन्त दूर की भ्रांतियाँ भरी पाई जा सकती हैं जिन्हें कितने ही मनगढ़ंत कथन रूप में लेखकों ने समाविष्ट कर दिया था और किसी ने उनको परीक्षा की कसौटी पर कभी कस कर सत्य का अनुसंधान करने का बाद में कुछ भी प्रयत्न नहीं किया। अतएव एक के बाद दूसरे लेखक उन भूलों की ही पुनरावृत्ति करते गये। यह ज्ञान की हीनावस्था का ही प्रतीक कहा जा सकता है। स्वर्गीय कविराज गणनाथ सेन ने संस्कृत में लिखी प्रत्यक्ष शरीर नामक शरीर-विज्ञान की अपनी पुस्तक की अँग्रेजी भूमिका में इस स्थिति का निम्न शब्दों में उल्लेख किया है :—

"The recently discovered work, *Sharir Padmini* is of little practical value to the learner of Anatomy as it was written in an age when no verification by dissection was in vogue or practicable. Thus, the so-called Anatomy of all extant Ayurvedic texts including the summaries called *Charak* and *Sushrut Samhitas*, bristles, as a matter of fact, with omissions, interpolations and inaccuracies of ages and is neither systematic nor descriptive. Later writers from Bagbhat down

to Bhava Misra, in their ignorance of the true meaning of ancient texts have only burdened the literature with what may be called a 'Fanciful Anatomy' of their own invention."

"वर्तमान समय में ही खोज निकाली हुई "शारीर पद्मिनी" नामक पुस्तक शरीर-विज्ञान के छात्रों के व्यावहारिक उपयोग की नहीं है क्योंकि यह ऐसे समय में लिखी गई थी जब शवच्छेदन क्रिया द्वारा तथ्य की परिपुष्टि कर लेना अप्रचलित तथा अव्यावहारिक हो गया था। इस कारण आज के सभी सुलभ आयुर्वेद-ग्रंथों तथा चरक तथा सुश्रुत संहिताओं में भी शरीर-विज्ञान के नाम पर लिखी सामग्री यथार्थतः युगों से प्रचलित आती हुई भ्रांतियों, क्षेपक तथा अशुद्धियों से भरी हुई हैं और वे न तो सुव्यवस्थित हैं और न विवरणात्मक हैं। कालांतर के लेखकों में वाग्भट से लेकर भाव मिश्र तक ने प्राचीन ग्रंथों का यथार्थ आशय हृदयंगम न कर सकने के कारण हमारे साहित्य पर ऐसे ग्रंथों का भार लादा है जिसका शरीर-विज्ञान मनोकल्पित अथवा उनकी निजी रूप से मनगढ़ंत बात कही जा सकती है।

इन रूपों में काल-चक्र के प्रभावों एवं ज्ञानांधकार के प्राबल्य ने आज के आयुर्वेद ज्ञान को बहुत ही असंतोषजनक स्थिति में रक्खा है। हमारे वैद्य और कविराज अपनी संकुचित दृष्टि के कारण इन व्याघातों से सत्य का आच्छन्न रूप देखने अथवा नवीन सत्य की शोध करने का उद्योग न कर केवल भूलों तथा मिथ्या धारणाओं पर ही विश्वास रख कर पुरानी लकीर पीटते रहना चाहते हैं। परंतु शोध का सर्वथा अभाव नहीं कहा जा सकता। विचारशील विद्वान अब प्राचीन ज्ञान को शुद्धि करने एवं नवीन सत्य की शोध से भी आयुर्वेद का कायापलट करने की ओर प्रवृत्त होने की पुकार मचा

रहे हैं। हम इन शोधकर्त्ताओं अथवा साहित्य पुनरुद्धारकों की सहायता से प्राचीन सफलताओं का भी मूल्याङ्कन करने में कुछ समर्थ होने लगे हैं। इस दिशा में विदेशी विद्वानों द्वारा प्राचीन आयुर्वेद अथवा शल्य-विद्या के सम्बन्ध में प्रशंसात्मक उद्‌गार पढ़ने का हमें अवसर प्राप्त होता है।

प्रसिद्ध विश्व-कोष, इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में शल्य-विज्ञान की पूर्व कथा लिखते हुए निम्न उल्लेख है :—

"We may give the first place, then, to the eastern branch of the Indo-European stock in a sketch of the rise of the surgery."

अर्थात् "शल्य-विज्ञान के विकास में हम प्रथम स्थान आर्यों की पूर्वी शाखा को ही दे सकते हैं।"

वेबर महोदय ने चिकित्सा-विज्ञान के इतिहास में कटी हुई नाक पर त्वचा का पेबंद लगाने अर्थात् नासासंधान कर्म को सुश्रुत के वर्णन के आधार पर प्राचीन भारतीयों की सफलता का नमूना स्वीकार किया है। इस विधि का नाम ही आज की नवीन शल्य-पद्धति में भारतीय-पद्धति पड़ गया है। नाक, कान, ओठ का अंग-सौष्ठव रक्षित रखने के लिए अन्य अंगों से त्वचा काट कर वहाँ लगाना संधानीय शल्य-शास्त्र (प्लास्टिक सर्जरी) है। डा० न्यूबर्जर ने चिकित्सा-विज्ञान के इतिहास में भी इस संबन्ध में भारतीयों की प्राचीन पद्धति को निम्न शब्दों में गौरव प्रदान किया है :—

"The plastic surgery of the 19th century was stimulated by the examples of Indian methods." (Dr. Neuberger, *History of Medicine*)

अर्थात् "उन्नीसवीं शताब्दी का संधानीय शल्यशास्त्र भारतीय पद्धति के नमूने से उत्प्रेरित हुआ था।"

किंतु वेबर महोदय ने तो स्पष्टतया लिखा है :—

"In surgery too the Indians seem to have attained a special proficiency and in this department European surgeons might perhaps, even at the present day, still learn something from them, as indeed they have already borrowed from them the operation of Rhinoplasty."

अर्थात् "शल्य-विज्ञान में भी भारतीय एक विशेष कौशल प्राप्त किये जान पड़ते हैं और इस विषय में योरोपीय शल्यकर्मी कदाचित् इस युग में भी उनसे कुछ सीख सकते हैं क्योंकि उनसे संधानीय शल्यशास्त्र उन्होंने सीख ही लिया है।"

सर विलियम हंटर ने लिखा है कि प्राचीन भारतीय शल्य-चिकित्सकों को आश्चर्यजनक ज्ञान था। वे दूषित या भ्रष्ट अंग काट फेंकने, रक्तस्राव को पट्टी तथा तप्त तेल से अवरुद्ध कर सकने, पथरी की शल्य-क्रिया करने तथा गर्भाशय और उदर के शल्यकर्म में कुशल थे। वे अंत्रवृद्धि (हर्निया), भगन्दर (फिस्च्युला) तथा बवासीर ठीक कर लेते थे, भग्न अस्थियों को जोड़ लेते तथा अस्थि-भ्रंश को सुधार लेते थे। छिन्न-भिन्न कान व नाक के समान नये ही तदनुरूप अवयव बना कर लगा दिये जाते थे। शरीर में प्रविष्ट विजातीय द्रव्य भी वे निकाल बाहर करने में समर्थ थे।

आधुनिक समय में शल्य-क्रिया के पूर्व रोगी को कृत्रिम रूप से बेहोश करने की परिपाटी है जिससे शल्य-क्रिया की वेदना उसे अनुभव न हो सके। प्राचीन समय में भारतीय संज्ञाहरण-क्रिया को प्रयोग में लाते हैं। संज्ञाहारक या सम्मोहक द्रव्य रोगी को शल्य-कर्म के पूर्व पिला दिया जाता। सुश्रुत शल्यकर्म के पूर्व

रोगी को पर्याप्त मद्य पिला देने का पक्षपाती था। वाग्भट में भी स्पष्ट उल्लेख है :—

प्राक्शास्त्र कर्मणश्चेष्ट भोजये दत्र मातुरम्।
पानपं पाभयेन्मद्यं तीक्ष्णं यो वेदना क्षमः॥

(वाग्भट सू० अ० २८)

मगध के राजा बिम्बसार के राजवैद्य जीवक (कुमार भृत्य) द्वारा काशी के एक सेठ के पुत्र की आँत पेट चीर कर बाहर निकाल लेने तथा उसे सुलझा तथा शुद्ध कर ठीक स्थिति में रखने का उल्लेख यह सिद्ध करता है कि उसे संज्ञाहर द्रव्य देकर ही ऐसा कठिन शल्य कर्म किया जा सका होगा। राजगृह के एक सेठ के सिर का शल्य कर्म कर उसमें से कीड़े बाहर निकालने की भी बात उल्लिखित है। यह क्रिया भी संज्ञाहर द्रव्य की उपेक्षा रखती होगी। किंतु कुछ विद्वानों का विचार है कि जीवक संज्ञाहर द्रव्य का प्रयोग न कर रोगी को स्तम्भ या शय्या से बाँधकर शल्य कर्म करता था।

शस्त्रों को शुद्ध कर प्रयोग करने की घटना एक आकस्मिक नहीं, प्रत्युत नियमित क्रिया थी। सुश्रुत ने लिखा है :—

उदरान्मेदसोवर्ति निर्गतायस्म देहिनः
कषाय भस्म मृत्कीर्णा बध्वा सूत्रेण सूत्रवित्
अग्नी तप्तेन शस्त्रेषाद्विद्यात् मधुसमायुतम्॥

सु० चि० अ० २ सू० ४६

अग्नी तप्तेन शस्त्रेण छिंद्यात् अन्यथा अतप्त शस्त्र छेदने पाक भयंस्यात् (ड० टी०)

सूक्ष्मदर्शक यंत्रों से हमें कीटाणुओं का जैसा गहरा मर्म ज्ञात हो सका है, उसके ज्ञान की कल्पना तो पूर्व काल में कर सकना

असम्भव बात ही कही जा सकती है; परन्तु दृश्य कृमियों का भी चीर-फाड़ की अशुद्धि तथा फोड़ों में दर्शन हो सकने से स्वच्छता की ओर ध्यान जा ही सकता था। अष्टांग हृदय में कृमियों का उल्लेख करते लिखा है :—

"जन्तवोणव: अपादा: वृत्तताम्रश्च सौक्ष्म्यात्केचिद् दर्शना:"

सुश्रुत ने शल्यगृह की शुद्धि के लिए औषधि द्रव्यों से धूपन का विधान उल्लिखित किया है :—

व्रणितस्य प्रथममेवाग्रारमविन्च्छेत् तच्छागार प्रशस्त वास्त्वादिकं कार्यं

प्रशस्त वास्तुनि गृहे शुचा वातय वर्जिते।
निवरते च न रोगा: स्यु: शरीरागन्तुमानसा: ॥

ततोगुग्गुलवगरूसेर्जसवचा गौर सर्व चुर्णै लवेण
निंब पत्र विमिश्रै राज्य युक्तैर्धूपयेत (सु० सू० अ० ५)

न केवलं व्रणं धूपयेत शवनाद्यापि व्रण दौर्गंध्यापगमार्थं निल मक्षिकादि परिहारार्थं च अन्यथा नील मक्षिकोपसर्पणात् व्रणे कृमय: पतंति। (ड०)

———

भारतीय यंत्र शस्त्र तथा शल्य-विज्ञान

सुश्रुत ने शल्यशास्त्र की परिभाषा निम्न प्रकार दी है :—

तत्र, शल्यं नाम विविध तृण काष्ठ पाषाणपांशुलोह लोष्ठास्थि बालनख पूयास्राव दुष्टव्रणांतर्गर्भशल्योद्धरणार्थं, यन्त्र शस्त्र क्षाराग्नि प्रणिधान व्रण विनिश्चयार्थं च ॥ सु० सू० अ० १ सू० ८

"शल्य अर्थात् नाना प्रकार के तिनके, काष्ठ, पत्थर, धूलि, लोहा, ढेला, अस्थि, बाल, नख, पूय (पीब), स्राव, दूषित व्रण, अन्तः शल्य, गर्भ शल्य आदि को निकालने के लिए एवं व्रण के निश्चय के लिए शल्य शास्त्र है।"

शल्य शब्द की परिभाषा लिखते हुए सुश्रुत ने निम्न व्याख्या दी है :—

'शल' 'श्वल' आशु गमने धातू; तयोराद्यस्य शल्यमिति रूपम्।
(सु० सू० अ० २६ सू० ३)

शल और श्वल ये दो धातु शीघ्र गमन अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। इनमें पहले से 'शल्य' शब्द बनता है।

तीव्रगति से शरीर में प्रवेश करने वाली वस्तुएँ बाण, गोली आदि ही हैं, परन्तु सुश्रुत ने शल्य के दो रूप बता कर एक को शारीरिक शल्य और दूसरे को बाहर से आई वस्तु, आगन्तुक शल्य नाम रक्खा है।

अतएव शल्य शास्त्र की परिभाषा सुश्रुत के अनुसार निम्न है :—

सर्व शारीराबाधकरं शल्यं तदिहोपदिश्यत इत्यतः शल्यशास्त्रम् ॥
सु० सू० अ० २६ सू० ५

सम्पूर्ण शरीर में जिससे पीड़ा होती है, उसका शल्य शास्त्र में व्याख्यान है, इसलिए इसको शल्य शास्त्र कहते हैं।

सुश्रुत में हम शल्य शास्त्र का इस रूप में व्यापक क्षेत्र पाते हैं। हम चीर-फाड़ को ही आज शल्य विज्ञान नाम देते हैं, परन्तु सुश्रुत अंग पीड़ा को उपचारों द्वारा दूर करने को भी शल्य विज्ञान कहता है। इतना ही नहीं, हम शल्य निकालने की अनेक विधियों या उपकरणों का जहाँ उल्लेख पाते हैं, वहाँ हर्ष की भी एक गिनती है। यह हर्ष शोक रूपी शल्य को ही हृदय से निकालने के लिए उपयोग में लाने के लिए उल्लिखित है। अन्य शल्यों में गले में अटके भोजन के ग्रास तथा डूबने की दुर्घटना में पेट में पहुँच पानी भी शल्य नाम से पुकारा गया है। गले में ग्रास (नेवाला) अटकने पर यह उपाय बताया गया कि निडर होकर रोगी के कंधे पर सहसा मुक्का मारना चाहिये। डूबे हुए व्यक्ति के पेट से पानी निकालने के लिए रोगी का शिर नीचे कर दबाना उचित बताया गया है। अटके हुए शल्य को निकालने के पन्द्रह उपाय निम्न प्रकार उल्लिखित हैं :—

१. स्वभाव—स्वयं निकल जाना
२. पाचन—स्वयं पच जाना
३. भेदन शस्त्रों से छेदना
४. दारण—घाव फाड़ना
५. पीड़न—दबाना
६. प्रमार्जन—बाल या वस्त्र से पोंछना
७. निध्मापन—नाक में सूँघना
८. वमन—उल्टी करना
९. विरेचन—शौच द्वारा निकालना
१०. प्रक्षालन—धोना
११. प्रतिमर्ष—अँगुली आदि से रगड़ना

१२. प्रवाहण—बलपूर्वक बाहर बहा देना
१३. आचूषण—मुख या सींग से चूसना
१४. अयस्कांत—चुम्बक से लोह शल्य निकालना
१५. हर्ष—शोक-शल्य दूर करना।

तत्र समासेनानवद्ध शल्योद्धरणार्थं पञ्चदश हेतून् वक्ष्यामः। तद्यथा-स्वभावः, पाचनं, भेदनं, दारणं, पीडनं, प्रमार्जनं, निर्ध्मापनं, वमनं, विरेचनं, प्रक्षालनं, प्रतिमर्शः, प्रवाहणम्, आचूषणम्, अयस्कान्तो, हर्षश्चेति।

सु० सू० अ० २७ सू० ४

शल्य के सम्बन्ध में जहाँ हम इतना व्यापक प्रभाव का उल्लेख पाते हैं वहाँ शल्य को फोड़ा, काँटा या शरीर में गड़ी कोई वस्तु अर्थ व्यक्त करने की चेष्टा भी पाते हैं। निम्न श्लोक में शल्य का लक्षण प्रकट किया गया है :—

यस्मिंस्तोदादयो देशे सुप्तता गुरुतापि च।
घट्टते बहुशो यत्र श्रूयते रुज्यतेपि च॥
आतुरश्चापि यं देशमभीक्ष्णं परिरक्षति।
संवाह्यमानो बहुशस्तत्र शल्यं विनिर्दिशेत्॥

सू० सू० अ० २६ सू० १४,१५

"जिस स्थान में कोंचने समान पीड़ा हो, संज्ञानाश तथा भारीपन हो, रोगी जिस स्थान को स्वयमेव अधिक चलाता हो, जिस स्थान में स्राव तथा पीड़ा हो, जिस स्थान की रोगी बार-बार रक्षा करता हो, या जिस स्थान को बार-बार मलता हो, वहाँ पर शल्य को समझना चाहिए।"

दूसरे स्थान पर शल्य का विशेष अर्थ सुश्रुत ने स्पष्टतः बताने के लिए निम्न विवरण दिया है:—

अधिकारो हि लोहवेणु वृक्षतृण शृङ्गास्थिमयेषु; तत्रादि विशेषतो लोहेष्वेव, विशसनार्थोपपन्नत्वाल्लोहस्य; लोहानामपि दुर्वारत्वादणु मुखत्वाद् दूर प्रयोजन कर त्वाच्च शर एवाधिकृतः।

सु० सू० अ० २६ सू० १०

"शल्य के प्रसिद्ध भेद-लोह, बाँस, वृक्ष, तृण, सींग, अस्थि से बने पदार्थों में शल्य शब्द प्रयुक्त होता है। इनमें भी विशेषकर लोह में ही शल्य शब्द व्यवहृत होता है क्योंकि इन धातुओं का उपयोग हिंसा कार्य के लिए होता है, इनकी चोट अचूक होती है, या सूक्ष्म मुख होने से भी इनके ही प्रयुक्त करने के द्वारा कार्य सिद्धि होने से बाण शब्द शल्य पद के लिए विशेष करके गिना जाता है।

शल्य के अर्थ में हम कुछ विभेद देख कर भी उसे शरीर से बाहर निकालने वाले उपकरणों को हम चीर-फाड़ आदि के यंत्रों और शस्त्रों के समान ही वर्णित पाते हैं। सुश्रुत का वाक्य है:—

मनः शरीराबाधकराणि शल्यानि। तेषामाहरणोपायो यंत्राणि॥

सु० सू० अ० ७ सू० ४

"शरीर और मन को शल्य पीड़ा पहुँचाते हैं। उनको निकाल बाहर करने वाले उपायों का नाम यंत्र है।"

वाग्भट का कथन है:—

नाना विधानां शल्यानां नाना देश निवेशिनाम्।
आहृतावभ्युपायो यस्तद् यंत्रं यच्च दर्शने॥

"यन्त्र वह हैं जो शरीर के विभिन्न भागों में प्रविष्ट नाना प्रकार के शल्यों को बाहर निकालने में प्रयुक्त होते हैं।"

यन्त्र शब्द से तो कोई भी औजार तथा हथियार का बोध हो सकता है किन्तु इसके दो विभागों में स्थूल मुखी यंत्र तो केवल यंत्र शब्द से पुकारे जाते हैं तथा तीक्ष्ण धार या सूक्ष्म मुख के यंत्रों का

नाम शस्त्र रक्खा गया है। सुश्रुत ने यंत्रों की संख्या १०१ बताई है परन्तु वाग्भट इनसे भी कुछ अधिक संख्या बताता है। अनेक आकृतियों तथा कार्यों के कारण यंत्र अनेक प्रकार के होते हैं। उन्हें आवश्यकतानुसार विविध रूप से निर्मित कराने का विधान है। यंत्रों के मुख्य ६ प्रकार उल्लिखित हैं:—(१) स्वस्तिक यन्त्र, (२) संदेश यन्त्र, (३) ताल यन्त्र, (४) नाड़ी यन्त्र, (५) शलाका यन्त्र और (६) उपयंत्र। यंत्रों का निर्माण प्रायः लोहा से होने का ही विधान है परन्तु विकल्प रूप में अन्य वस्तुओं से भी उसका निर्माण हो सकता है।

यंत्रों के आकार के सम्बन्ध में सुश्रुत का निम्न कथन उल्लेखनीय है :—

तत्र नाना प्रकाराणां व्यालां मृगपक्षिणां मुखैर्मुखानि यन्त्राणाम् प्रायशः सदृशानि; तस्मात् तत्सारूप्यादागमा दुपदेशादन्य यन्त्र-दर्शनादयुक्तितश्च कारयेत्॥

—सु० सू० अ० ७ सू० ८

"यन्त्रों के अग्रभाग प्रायः व्याल (हिंसक जन्तुओं), मृगों (शेर बाघ आदि) और पक्षियों के मुख तुल्य होते हैं। अतः यन्त्रों का निर्माण शास्त्रोक्त विधि से, अनुभवियों के आदेश से अन्य यंत्रों का अनुकरण कर तथा अपनी बुद्धि लगा कर करना चाहिए।"

यन्त्रों के निर्माण में यह बताया गया है कि ये निर्धारित परिमाण के (सुसमाहित), भीतर से खुरदरे (खर) या दाँतों वाले (सदन्तुर), बाहर से तीक्ष्ण मुखी (श्लक्ष्णमुखी), दृढ़, सुन्दर रूप के तथा अच्छे दस्ते या मूंठ वाले (सुग्रह) हों।

विचित्र आकार के यन्त्रों में स्वस्तिक यंत्र को जंबूर (अँग्रेजी में फोर्सेप्स) कह सकते हैं। स्वस्ति का अर्थ कल्याण है। अतएव लाभ-

कारी कार्य करने से इनका नाम स्वस्तिक पड़ा है। इसमें लोहे के दो स्थूल फलक या दंड होते हैं जिनके मध्य भाग में एक कील इस प्रकार डाली जाती है कि एक ओर के सिरों में गति करने से दूसरी ओर या मुख के भाग भी निकट या दूर होकर कोई वस्तु पकड़ सकें या छोड़ सकें। जिस ओर पकड़ने का स्थान होता है उसका नाम मूल भाग या हस्तग्रह, मुष्टि, वारंग आदि रक्खा गया है। इसी को दस्ता कहते हैं। कील या टोपी लगने के स्थान को कंठ नाम दिया गया है। अनुभाग मुख कहा गया है। कोई जंबूर (स्वस्तिक यन्त्र) अपना मुख शेर के समान रखने से सिंहमुख, कौए के मुँह समान रखने से काकमुख, बाज के मुँह के समान रखने से श्येनमुख आदि नाम से पुकारा जाता है। सुश्रुत ने २४ स्वस्तिक यन्त्रों के आकार बताये हैं जिनमें ६ नाम पशुओं के तथा १५ पक्षियों के हैं। इन नामों में कुछ को तो प्राचीन भाष्यकारों ने भी पहचान या बता सकने में असमर्थता प्रकट की है किन्तु पूर्व समय में उन नामों के कुछ जंतु होंगे जिनका आज लोप न भी हुआ हो तो वर्तमान नाम बता सकना कठिन है। वाग्भट ने ३-४ पशु-पक्षियों के ही नाम देकर आकार के विभेद की चर्चा कर दी है। सुश्रुत के बताये आकारों का रूप अनुमानित किया गया है। उन जंतुओं के नामों में से कुछ के वर्तमान नाम कोष्ठक में नीचे दिये जाते हैं:—

(१) सिंह (शेर) (२) व्याघ्र (बाघ) (३) वृक (भेड़िया) (४) तरक्षु (लकड़बग्घा) (५) ऋक्ष (भालू) (६) द्वीपि (चीता) (७) मार्जार (बिल्ली) (८) शृगाल (गीदड़) (९) मृगैर्वारुक (हरिण) (१०) काक (कौआ) (११) कंक—(दीर्घ चोंच और बड़े डीलडौल का कोई पक्षी) (१२) कुरर (टिटिहरी) (१३) चास (बहरी) (१४) भास (श्वेत गिद्ध) (१५) शशघाती (शरारी, एक शिकारी पक्षी) (१६) उलूक (उल्लू) (१७) चिल्लि (चील) (१८) श्येन (बाज) (१९) गृद्ध (गीध) (२०)

क्रौंच (कूँज पक्षी) (२१) भृङ्गराज (फसली बटेर) (२२) आंजलिकर्ण (२३) अवभंजन (२४) नन्दिमुख।

वाग्भट ने संक्षेप में लिखा है:—

तुल्यानि कङ्कसिंहर्क्ष काकादिमृग पक्षिणाम्।
मुखैर्मुखानि यन्त्राणां कुर्यात्तत्संज्ञकानि च ॥३॥

अ० हृ० सू० अ० २५

"यन्त्रों के मुख कंक, सिंह, ऋक्ष, काकादि पक्षियों और मृगों के मुखों के तुल्य बनाये और उनका नाम उनके अनुरूप ही रक्खे।"

अष्टादशांगुलायामान्यायसानि च भूरिशः।
मसूराकारपर्यन्तैः कण्ठेबद्धानि कीलकैः ॥६॥
विद्यात् स्वास्तिक यन्त्राणि मूले अंकुशनतानि च।
तैर्दृढैरस्थिसंलग्न शल्याहरण मिष्यते ॥७॥

अष्टांग हृदय सूत्र अध्याय २५

"स्वस्तिक यन्त्र अठारह अंगुल (एक फीट डेढ़ इंच) लंबे और प्राय: लोह (आयस) निर्मित होने चाहिए। मध्य (कंठ) में मसूर (या छोटी मटर) के आकार की कील जोड़ देना चाहिए। ऐसे यन्त्रों को स्वस्तिक यन्त्र कहते हैं। मूठ (मूल) में अंकुश की भाँति टेढ़े मुड़े भाग हों। उन दृढ़ यन्त्रों से हड्डियों में अँटके हुए शल्य निकाले जाते हैं।"

सिंहमुख स्वस्तिक यन्त्र का उपयोग हड्डियों से शल्य निकालने में उल्लिखित है परन्तु आधुनिक काल में सिंह मुख जंबूर का उपयोग हड्डी की चीरफाड़ करते समय उसे पकड़ने के लिए किया जाता है। व्याघ्र, तरक्षु (लकड़बग्घा), वृकमुख आदि स्वस्तिक यन्त्र भी ऐसे ही विभिन्न उपयोगों के होंगे। परन्तु कंकमुख स्वस्तिक यंत्र (जंबूर) एक विचित्र आकार का यन्त्र है जिसका अग्र भाग बड़ी लंबी चोंच के समान सारस बगलामुखी होता है। कंक पक्षी कदाचित् कोई

बगला (वक) होता था। बंद होने पर चोंच समान मुख गोल बन जाता है और छिद्र में भली भाँति प्रवेश पा सकता है। अतएव गहरे घाव या चोट में इसका प्रयोग कर भीतर अटकी कोई वस्तु बाहर निकाल ली जा सकती है। बगला जिस प्रकार मछली को अपने मुख में दबा लेता है उसी प्रकार शल्य को यह कंक मुख यन्त्र अपने अग्रभाग से पकड़ कर बाहर कर सकता है। सुश्रुत ने इसी कारण लिखा है:—

निवर्तते साध्ववगाहते च शल्यं निगृह्योद्धरते च यस्मात्।
यन्त्रेष्वतः कङ्कमुखं प्रधानं स्थानेषु सर्वेष्वधिकारि चैव ॥२१॥

सु० सू० अ० ७

"कंकमुख यन्त्र भली-भाँति घूम सकता है और गहरे से गहरे शल्य तक पहुँच कर उसे बाहर निकाल सकता है। इसी कारण कंक-मुख सब यन्त्रों में प्रधान है और शरीर के सब स्थानों के लिए उपयोगी है।"

सिंहमुखादि तथा कंकमुखादि यन्त्रों के उपयोग के सम्बन्ध में सुश्रुत ने लिखा है:—

दृश्यं सिंहमुखाद्यैस्तु गूढं कङ्कमुखादिभिः।
निर्हरेत शनैः शल्यं शस्त्र युक्तिव्यपेक्षया ॥२१॥

सु० सू० अ० २७

"जो दृश्य शल्य हो अर्थात् बाहर से दिखाई पड़े उसे शस्त्रों का उपयोग जानने वाला कुशलवैद्य सिंहमुखादि यन्त्रों से निकाले किन्तु जो अदृश्य या गहराई में शल्य हो उसे कंकमुखादि यन्त्रों से निकाले।"

सुश्रुत ने यन्त्रों के प्रयोगकर्त्ता को अपनी बुद्धि का उपयोग करने का आदेश देते हुए लिखा है:—

स्वबुद्धया चापि विभजेद्यन्त्रकर्माणि बुद्धिमान् ।
असंख्येयंविकल्पत्वाच्छल्या नामिति निश्चयः ॥१८॥
—सू० सू० अ० ७

"शल्यों के विविध प्रकार होने के कारण बुद्धिमान वैद्य यन्त्र के उपयोगों को अपनी बुद्धि से विभक्त करे।"

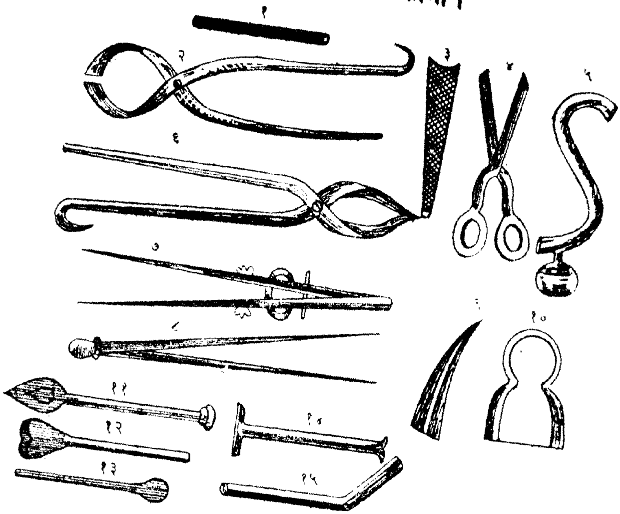
यन्त्रों के विभिन्न उपयोगों को वाग्भट ने निम्न प्रकार लिखा है:—

निर्घातनोन्मथन–पूरण–मार्ग शुद्धि–संव्यूहनाहरण–बंधन-पीड़नादि।
आचूषणोन्नमन-नामन-चालभंग व्यावर्त्तनर्जुकरणानि च यंत्रकर्म॥४१॥
—अष्टांग हृ० सू० अ० २५

इस श्लोक में १६ यन्त्र कर्म गिनाये गये हैं, परन्तु सुश्रुत ने इनके साथ ही कुछ अन्य कर्मों की गिनती करा कर कुल २४ कर्म निम्न प्रकार बताए हैं—

१. निर्घातन—इधर-उधर हिलाना।
२. पूरण—कान आदि को तेल या अन्य द्रव्य से भरना।
३. बन्धन—घावों पर पट्टी बाँधना।
४. व्यूहन—कटे हुए घाव के किनारों को यन्त्र से ऊपर उठाना।
५. वर्तन—घुमाना।
६. चालन—हिलाना।
७. विवर्तन—यन्त्र या हाथ से पकड़ कर खींचना।
८. विवरण—घाव के मुख को खोलना या फैलाना।
९. पीड़न—दबा कर पीब आदि निकालना।
१०. मार्ग विशोधन—मलमूत्र मार्ग को सलाई से खोलना या फैलाना।
११. विकर्षण—पकड़ कर बाहर निकालना।

१२. आहरण या आनयन—निकालना।
१३. आंछन—मुख की ओर खींच लाना।



प्राचीन भारतीय यन्त्र

१. नलिका यन्त्र
२. स्वस्तिक यन्त्र
३. सन्दंश यन्त्र
४. शरारि मुख यन्त्र
५. चूषण यन्त्र
६. स्वस्तिक यन्त्र
७. सन्दंश यन्त्र
८. सन्दंश यन्त्र
९. शृंग यन्त्र
१०. अलाबु यन्त्र
११. ताल यन्त्र
१२. ताल यन्त्र
१३. ताल तन्त्र
१४. नाड़ी यन्त्र
१५. नाड़ी यन्त्र

१४. उन्नमन—नीची हड्डी या शल्य को ऊपर उठाना।

१५. विनमन—नीचे करना।

१६. भंजन—टुकड़े-टुकड़े करना।

१७. उन्मथन—टूटी-फूटी हड्डी या शल्य को सलाई से टटोलना।

१८. आचूषण—विष या विषाक्त रक्त, स्तन का दूध आदि मुख या सिंगी से चूस फेंकना।

१९. एषण—घुंडीदार मुख की सलाई (गंडूपदमुख यन्त्र) से घाव की गति जाँचना।

२०. दारण—दो भागों में फाड़ देना या फोड़ा चीर देना।

२१. ऋजूकरण—टेढ़े शल्य या अंग को सीधा करना।

२२. प्रक्षालन—धो देना।

२३. प्रधमन—नाक के छेद में सुँघनी के समान नली द्वारा थूकना।

२४. प्रमार्जन—पोंछना या स्वच्छ करना।

यन्त्रों के इन विविध प्रयोगों का वर्णन पढ़ कर हमें उन यन्त्रों का रूप ज्ञात करने की उत्सुकता हो सकती है जो इनके लिए प्राचीन काल में हमारे देश में उपयुक्त होते रहे हों। आज हम सँड़सा, सँड़सी, या चिमटा, चिमटी का नाम ही नहीं सुनते, प्रत्युत इन्हें नित्य प्रयोग में भी लाते हैं परन्तु सँडसा के ही संस्कृत अर्थात् शुद्ध रूप संदंश को हम सर्वथा ही विस्मृत कर चुके हैं तथा उसके वैज्ञानिक प्रयोग से भी अनभिज्ञ ही हैं। इने-गिने वैद्य इन नामों को वैद्यक की पुस्तकों में पढ़ भर लेते हैं।

संदंश शब्द का अर्थ ही यह है अच्छी प्रकार डँस (दंश) लेने वाला या पकड़ लेने वाला यन्त्र। चींटे या साँप की तरह पकड़ने की हम कल्पना कर सकते हैं। दंश शब्द हमें उसकी स्मृति दिलाता है। संदंश या संदंशनी की जगह आज हम सँड़सा या सँड़सी ही प्रयुक्त करते हैं। इसमें भी स्वस्तिक यन्त्र की भाँति दो फलक या दंड

होते हैं जिनको मध्य में कील द्वारा जोड़ दिया गया होता है। अग्र-भाग या मुख छोटा होता है तथा पिछला भाग या हस्तग्रह (दस्ता या मूँठ) दृढ़ तथा टेढ़ा होता है। इसके दो प्रकार बताए गए हैं जिन में एक को मूँठ या हस्तग्रह युक्त (निग्रहयुक्त या सनिग्रह) और दूसरे को निग्रहहीन या अनिग्रह कहते हैं। सनिग्रह संदंश को लोहार की सन्नी या सँडसी से तुलना कर सकते हैं। उसको बीच में कीले द्वारा जुड़े होने से कीलबद्ध संदंश भी कह सकते हैं, परन्तु दूसरे प्रकार को चिमटी का रूप समझ सकते हैं जिसमें कील नहीं होती। उसका अग्रभाग स्वतन्त्र होता है। इसलिए इसे मुक्ताग्र संदंश नाम दिया गया है। चिमटी या मुक्ताग्र संदंश में फलक एक सिरे पर जुड़े होते हैं। साधुओं का चिमटा या रसोईघर में प्रयुक्त चिमटा इसका रूप कहा जा सकता है। नाऊ का मोचना भी ऐसा ही होता है।

वाग्भट ने लिखा है :—

> कीलबद्धविमुक्ताग्रौ सन्दंशौ षोडशांगुलौ।
> त्वक्शिरा स्नायुपिशित लग्न शल्यापकर्षणौ ॥ ८ ॥

अष्टाङ्ग हृदय सू० अ० २५

"संदंश के दो प्रकारों में एक कील से जुड़ा हुआ (कीलबद्ध) और दूसरा अगले सिरे पर खुला हुआ (मुक्ताग्र) होता है। इनकी लम्बाई १६ अँगुल (एक फुट) होती है। इसका कार्य त्वचा, रक्त-नलिका, स्नायु तथा मांस-पेशियों में विद्ध शल्य को निकालना होता है।"

मुक्ताग्र संदंश अर्थात् चिमटी के दो रूप हो सकते हैं। साधुओं के चिमटे में हम एक छल्ला पीछे के भाग में लगा देख सकते हैं उसको निबंधन नाम दे सकते हैं। छल्ला या निबन्धन आगे खिस-

काने से चिमटे के अगले सिरे जुटे रह कर कोई वस्तु पकड़े रह सकते हैं। ऐसे चिमटों को छल्लायुक्त या सनिबन्धन संदंश कहते हैं। इसमें कमानी की व्यवस्था कर भी अगला सिरा जोर से कोई वस्तु पकड़ने के लिए प्रयुक्त हो सकता है। छल्ला या निबन्धनहीन चिमटों को अनिबंधन संदंश कहते हैं। सुनार की चिमटी ऐसी होती है। ये नाम वैज्ञानिक प्रयोग के संदंशों के हैं। रूपों में कुछ अन्य प्रकारान्तर हो सकते हैं। चिमटियों का मुख खुरदरा (खर) और चपटा भी हो सकता है अथवा नोकदार और दाँतेदार भी हो सकता है।

एक प्रकार की छोटी चिमटी मुचुंडी (मोचना) नाम से पुकारी गई है जिसका अगला सिरा छोटे दाँतोंयुक्त होता है और सिरों से कोई वस्तु पकड़ने के लिए छल्ले का भी प्रतिबन्ध उसमें होता है।

वाग्भट ने लिखा है :—

> मुचुंडी सूक्ष्मदन्तर्जुमूले रुचकभूषण।
> गम्भीर व्रण मांसानामेर्म्मण: शेषितस्य च ॥ ८ ॥

अ० हृ० सू० अ० २५

सूक्ष्म दाँतों से युक्त, सीधी मूँठ में एक छल्ला (रुचक) वाली मुचुंडी (मोचना) होती है। गहरे घावों के अन्दर मांस तथा कटे-पिटे अवयव को निकालने के लिए वह काम आती है।

एक ऐसी चिमटी का भी वर्णन मिलता है जो पलकों को निकालने के लिए उपयुक्त होती थी। इसको उपपक्ष्म संदंशनी कहा जा सकता है। इसका मुख चपटा और गोल होता था। इसी प्रकार के अनेक यन्त्र मांस, त्वचा आदि से कीले, काँटे और मवाद आदि निकालने में प्रयुक्त होते होंगे। नाक का बाल निकालने में भी उनका उपयोग होता होगा।

ताल यन्त्र का अर्थ मछली के पतले सफेद छिछड़े या बाहरी छिलके (मत्स्यताल) के समान मुख वाला यन्त्र है। मछली के छिछड़े को मत्स्यशकल या मीन खंड भी कहते हैं किन्तु कुछ विद्वान मत्स्यतालु भी समझकर ऐसे ही आकार का अर्थ लगाते हैं जो हम किसी वस्तु को बीच में छोटा मेहराब बनाया देख सकते हैं। ऐसा ही आकार छिछड़े का भी होता है। नन्हा चम्मच भी हम इस आकार के तुल्य समझ कर ताल यन्त्रों को चम्मचमुख कह कर आधुनिक नाम दे सकते हैं।

वाग्भट ने लिखा है :—

> द्वे द्वादशाङ्गुले मत्स्यतालवद् द्वयेकतालके।
> ताल यन्त्रे स्मृते कर्ण नाड़ी शल्यापहारिणी ॥ १० ॥
>
> अ० हृ० सू० अ० २५

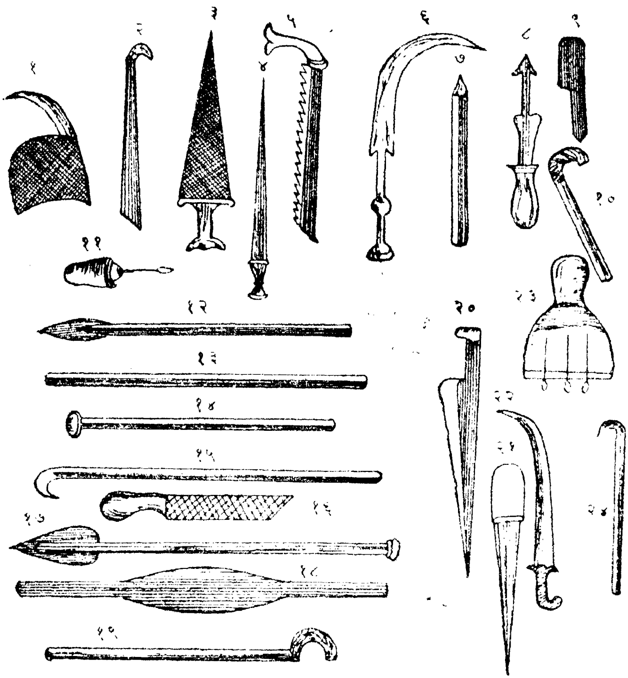
"दो प्रकार के ताल यन्त्र १२ अँगुल लम्बे, मछली के छिछड़े (ताल) या तालु के सदृश भीतर से गहरे एक ताल और द्विताल नाम के होते हैं। इनका कार्य नाक, कान, नाड़ी, घाव आदि के शल्यों का निकालना होता है।"

सुश्रुत में भी वाग्भट की भाँति ताल यन्त्रों का निम्न वर्णन है :-

> ताल यन्त्रे द्वादशाङ्गुले मत्स्यतालवदेकताल द्वितालके।
> कर्ण नासा नाड़ी शल्यानामाहरणार्थम् ॥ १२ ॥
>
> सु० सू० अ० ७

"ताल यन्त्र १२ अँगुल लम्बे, मत्स्यताल या तालु सदृश भीतर गहरे, एक ताल और द्विताल दो प्रकार के होते हैं। इनका कार्य कान, नाक, नाड़ी, घाव आदि के शल्यों को निकालना है।"

बाजारों में नन्हीं कनखोदनी मिलती है। उसमें दोनों सिरों पर नन्हीं कलछी या चमची का रूप हो तो उसे द्विताल और एक



प्राचीन भारतीय शस्त्र

१. मुद्रिका
२. नख शस्त्र
३. वृद्धि पत्र
४. वेतस पत्र
५. कर पत्र
६. मंडलाग्र
७. एषणी
८. कुठारिका
६. व्रीहीमुख
१०. अन्तर्मुख
११. आरी
१२. शलाका
१३. ”
१४. ”
१५. ”
१६. उत्पल पत्र
१७. उत्पल पत्र
१८. शलाका
१६. ”
२०. अर्द्ध धारा
२१. सूची
२२. दन्त शंकु
२३. त्रिकूर्चक
२४. वडिश यन्त्र

ही और ऐसा रूप हो तो उसे एकताल कह सकते हैं। इनका आकार पुरुष के कान के छेद के आकार के अनुसार छोटा या बड़ा होना चाहिये। एकताल और द्विताल का एक दूसरा अभिप्राय भी लिया जाता है। यदि एक सलाई में चम्मचनुमा सिरा हो तो उसे एक-ताल कहने में कोई सन्देह नहीं, परन्तु द्विताल को हम एक ही सलाई के दोनों सिरों पर तालनुमा मुख न रख कर एक ऐसी चिमटी का अनुमान करें जिसकी दोनों बाहुओं या फलकों के सिरे इस प्रकार तालनुमा हों कि सिरे निकट होने पर वे कोई गोल वस्तु दबाये रह सकें। सुश्रुत के टीकाकार डल्हण ने भेटुलि नाम की मछली का उल्लेख कर उसके मुख का आकार ऐसे द्विताल यन्त्र के समान बताया है। जिस प्रकार भेटुलि मछली अपने नीचे ऊपर के तालनुमा अर्द्धगोले जबड़ों के मध्य कोई शिकार दबा लेती है उसी प्रकार द्विताल यन्त्र भी अपने फाँस में कोई शल्य दबा कर बाहर निकाल सकता है।

नाड़ी यन्त्रों या नलिकाकार यन्त्रों के सम्बन्ध में सुश्रुत तथा वाग्भट दोनों में ही निम्न प्रकार उल्लेख हैं। वाग्भट ने लिखा है :-

नाड़ी यन्त्राणि शुषिराण्येकानेकमुखानि च।
स्रोतोगतानां शल्यानामामयानाञ्च दर्शने ॥ ११ ॥

क्रियाणां सुकरत्वाय कुर्यादाचूषणाय च।
तद्विस्तारपरीणाहदैर्घ्यं स्रोतोऽनुरोधतः ॥ १२ ॥

अ० हृ० सू० सू० २५

"नलिकाकार या नालीदार यंत्र (नाड़ी यन्त्र) पोले (शुषिर) और एक या अनेक मुख वाले होते हैं। कान, नाक, मुँह, मलद्वार, मूत्रद्वार आदि नालियों में फँसे शल्यों (विजातीय द्रव्य, पीब, पथरी, बाल आदि) को ढूँढ़ने तथा निकालने और रोगी की परीक्षा

करने में सुगमता के लिए और दूषित द्रव्यों को चूस कर बाहर फेंकने के लिए बनवावें। उनकी मोटाई (विस्तार), चौड़ाई (परिणाह), और लम्बाई (दैर्घ्य) कान आदि के छेदों के अनुसार होनी चाहिये।"

सुश्रुत ने भी इसी प्रकार विशेष अंगों के छेदों के मुख के अनुसार व्यास की गोलाई के नलिका यन्त्र बनवाने की व्यवस्था करने का उल्लेख किया है। इन यन्त्रों का प्रयोग भगन्दर, बवासीर, घाव, बस्ति, अंड-वृद्धि (हाइड्रोसील), जलोदर आदि रोगों के सम्बन्ध में करने का उल्लेख है।

सुश्रुत के अनुसार सलाई या शलाका यन्त्र के अनेक प्रकार और प्रयोग होते हैं जिनकी लम्बाई, चौड़ाई प्रत्येक यन्त्र में आवश्यकतानुसार कम या अधिक होती है। उनके भेद निम्न हैं :—

(१) केचुआमुखी (गंडूपदमुखी), (२) सर्पफणमुखी शलाका, (३) शर पुंख या बाणमूलमुखी, (४) अंकुश या बडिशमुखी, (५) मसूरदलमुखी, (६) रुई का फाहा लगाने की सलाई (षट् कार्पास कृतोष्णीषाणि, (७) कड़छीमुखी (खल्लमुखी), (८) अग्नि शलाका, (९) खरल समान गहरे तथा खड़े किनारोंयुक्त मुख वाली (नासार्बुदी शलाका) (१०) आँजन लगाने की सलाई (अंजन शलाका), (११) मूत्रमार्गशोधनी शलाका।

वाग्भट ने लिखा है :—शलाकाख्यानि यन्त्राणि नाना कर्माकृतीनिच यथा योग प्रमाणानि ......॥ २७ ॥ अ० हा० आ० २५

"शलाका नाम से प्रसिद्ध यन्त्र अनेक प्रकार के तथा अनेक कार्यों के लिए अनेक आकार के हैं। इनकी नाप आवश्यकतानुकूल होनी चाहिये।"

सुश्रुत के अनुसार शलाका यन्त्र बहुत रूपों के और बहुत कामों के लिए होते हैं। इनकी लम्बाई चौड़ाई प्रयोजन के अनुसार न्यून वा

अधिक होती है। उनमें केचुआमुखी (गंडूपद मुखी) २, सर्पफण २, शरपुंख २, और अंकुश या बडिशमुख २ होते हैं। इनका कार्य घाव की गति परखना (एषण), घाव के कटे भाग के किनारे ऊपर उठाना (व्यूहन), हिलाना (चालन) तथा बाहर निकालना (आहरण) है। मसूरदलमुख शलाकाएँ आगे के भाग में कुछ मुड़ी होती हैं, छेदों में फँसे शल्यों को निकालने के लिए उनका उपयोग होता है। ६ सलाइयाँ ऐसी हैं जिनके सिर पर कपास लिपटी होती है। ये घावों के पोछने में काम आती हैं। ३ सलाइयाँ कलछी या दर्वी के आकार समान मुख वाली (खल्ल मुख) क्षार तथा द्रव पदार्थों के डालने के लिए होती हैं। अन्य तीन सलाइयाँ जामुन के फल के समान मुखवाली (जांबव मुख) तथा तीन मछली मारने या फँसाने की बंशी या अंकुश के आकार के समान मुख वाली होती हैं। ये छः अग्नि कर्म के लिए उपयोगी हैं। नाक का मस्सा हटाने के लिए एक सलाई बेर की गुठली के आधे भाग (कोलास्थि) के सदृश मुख वाली होती है जिसके किनारे खरल की तरह परन्तु तीक्ष्ण होते हैं। सुरमा लगाने की सलाई (अंजन शलाका) मटर के दाने सदृश मोटी और दोनों सिरों पर पुष्पकलिका की तरह कुछ मोटी होती है। मूत्र-मार्ग शोधन की सलाई चमेली के फूल के नलिकाकार वृन्त की तरह गोल होती है।

(१) केचुआ मुखी (गंडूपद मुखी) शलाका—केचुआ ही गंडूपद है। इसके मुख के समान कुछ मोटी घुंडी के समान मुख की सलाई को केचुआ मुखी या गंडूपदमुखी कहते हैं। इसका कार्य घाव के अन्दर टटोल कर परीक्षा करना है। वाग्भट ने लिखा है :—

उभे गण्डूपदमुखे स्रोतोभ्यः शल्यहारिणी।

अ० हृ० सू० अ० २५

"केचुआमुखी सलाइयाँ दोनों स्रोतों से शल्य उद्धार के लिए प्रयुक्त होती हैं।"

(२) सर्पफणी मुखी शलाका—साँप के फन समान मुखवाली सलाई सर्पफणी शलाका कहलाती है। इसका काम व्यूहन अर्थात् कटे हुए अंग या घाव के किनारे को ऊपर उठाना है। वाग्भट ने लिखा है :—

व्यूहनेऽहिफणावक्त्रौ द्वौ दश द्वादशांगुलौ।

अ० हृ० सू० अ० २५

"सर्पफण मुख (अहिफणवक्त्र) सलाइयाँ दो तरह की होती है एक दश अंगुल लम्बी, दूसरी बारह अंगुल लम्बी। इनका कार्य कटे हुए भाग को ऊपर उठाना (व्यूहन) है।

(३) शरपुंख मुखी सलाई—बाण का जो भाग प्रत्यंचा के साथ हाथ के निकट होता है उसे शरपुंख नाम दिया गया है। वाग्भट ने लिखा है :—

चालने शरपुंखास्यौ

अ० हृ० सू० अ० २५

"शरपुंख मुख सलाइयाँ दो होती हैं और हिलाने (चालन) के कार्य में प्रयुक्त होती हैं।" कीड़ा खाये दाँत उखाड़ने में भी इसका उपयोग होता है। बाग्भट ने लिखा है कि दाँत उखाड़ने वाला शरपुंख मुख ४ अंगुल लम्बा होता है।

(४) अंकुश या वडिश मुख शलाका—मछली पकड़ने की बंसी या अंकुश को वडिश कहते हैं। उसके समान टेढ़े मुख वाली सलाई वडिश मुख कहलाती है। इसका कार्य किसी फँसी हुई वस्तु को बाहर निकाल फेंकना (आहरण) या ऊपर उठाना है। थोड़ा मुड़ाव होने से किंचिदानत और अधिक होने से अत्यानत शलाका नाम पड़ता है। अष्टांग हृदय में वाग्भट ने व्यक्त किया है :—

आहार्ये बडिशाकृती ॥ २६ ॥

अ० हृ० सू० अ० २५

"अंकुश आकार की दो सलाइयाँ आहरण कार्य के लिए प्रयुक्त होती हैं।"

(५) मसूर दल मात्र मुख शलाका—अष्टांग हृदय में वाग्भट ने इस सलाई के सम्बन्ध में उल्लेख किया है :—

स्रोतोभ्यः शल्यहारिणी मसूरदल वक्त्रे द्वे स्यातामष्टनवाङ्गुले ॥२८॥

अ० हृ० सू० अ० २५

"कान आदि के छेदों में शल्योद्धार के लिए दो सलाइयाँ ८ और ९ अंगुल लम्बी होती हैं। मसूर की दाल के दाने के समान इनका नाम मसूर दल मुखी शलाका है।"

(६) कपास लगी सलाई या कार्पासकृतोष्णीष शलाका वाग्भट का कथन है :—

कार्पासविहितोष्णीषाः शलाकाः षट् प्रमार्जने।
पाया वासन्न दूरार्थे द्वे द्वादशाङ्गुले। द्वे षट्सप्ताङ्गुले
घ्राणे द्वे कर्णेऽष्टवाङ्गुले॥

अ० हृ० सू० अ० २५

"सलाइयाँ ऐसी हैं जिसके सिरे पर कपास का फाहा लगा होता है। इनमें से दो मलद्वार के लिए होती हैं जिनमें एक निकट-वर्ती तथा दूसरी दूरवर्ती शल्य के लिए होती है। यह क्रमानुसार १० तथा बारह अंगुल की होती है। दो नाक के लिए छः और सात अंगुल और दो कान के लिए आठ और नव अंगुल लंबी होती हैं।"

उष्णीष शब्द का अर्थ पगड़ी है। सलाई के सिरे पर कपास (कर्पास) की पगड़ी-सी बने होने को हम लोग फाहा कहते हैं। इसको कर्पास शलाका या तूल शलाका भी कह सकते हैं। डल्हण ने

फाहा को "तूलवेष्टिताग्राणि" कह कर कर्पास कृतोष्णीष की व्याख्या की है। वाग्भट ने छः भेद लिखे हैं :—

कार्पासविहितोष्णीषाः शलाकाः षट्प्रमार्जने।
पायावासन्नदूरार्थे द्वे दश द्वादशांगुले ॥ ३३ ॥
द्वे षट्सप्तांगुले घ्राणे द्वे कर्णेऽष्टनवांगुले।

अ० हृ० सू० अ० २५

"पोछने (प्रमार्जन) के उपयोग में आने वाली ६ सलाइयाँ ऐसी होती हैं जिनके सिरे पर रुई लिपटी होती है। इनमें से दो में से एक मलद्वार के निकटवर्ती शल्य के लिए तथा दूसरी दूरवर्ती शल्य के लिए होती है। वे क्रमशः १० और १२ अंगुल लम्बी होती हैं। दो सलाइयाँ नाक के लिए ६ या ७ अँगुल लम्बी और दो कान के लिए ८ या ९ अँगुल लम्बी होती हैं।

(७) चम्मचमुखी या खल्लमुखी शलाका की आकृति चमचे की तरह होती है। छोटी चमची या कड़छी इसे कह सकते हैं। क्षार, तेल, नाक, कान आदि में डालने में इनका उपयोग होता है।

वाग्भट ने लिखा है :—

अष्टांगुला निम्न मुखास्तिस्त्रः क्षारौषधक्रमे।
कनीनी–मध्यमाऽनामी–नखमान–समैर्मुखैः ॥ ३७ ॥

अ० हृ० सू० अ० २५

"खल्लमुखी शलाका ८ अङ्गुल लम्बी, गहरी तथा कनिष्ठा, अनामिका और मध्यमा अँगुली के नखों के आकार या नाप के मुखों वाली होनी चाहिये।"

(८) अग्नि शलाका—बवासीर (अर्श), विषाक्त व्रण, बवासीर के मसे (अर्शकील), आदि जलाने का विधान पहले था। सुश्रुत ने ६ सलाइयाँ इस कार्य के लिए बताई हैं जिनमें जामुन के फल समान

मुख वाली (जांबववदन) और तीन अंकुश की तरह मुख वाली अंकुशवदन होती हैं। वाग्भट ने ६ शलाका और ६ जांबव ओष्ठ यन्त्र का उल्लेख किया है :—

शलाका जांबवओष्ठानां चारेऽग्नौ च पृथक् त्रयम्।
युञ्ज्यात् स्थूलाणुदीर्घाणाम्.................... ।

अ० हृ० सू० अ० २५

"क्षार और अग्नि कर्म में पृथक्-पृथक् मोटी, छोटी और बड़ी छ: सलाइयाँ तथा छ: जांबव ओष्ठ यन्त्र उपयुक्त करें।"

(६) नासार्बुदी शलाका—बेर की गुठली के अर्ध भाग की तरह तथा खरल की तरह गहरी और ऊँची पैनी किनारियोंयुक्त मुख वाली होनी चाहिये। वाग्भट ने लिखा है :—

कोलास्थिदल तुल्यास्या नासार्शोऽर्बुद दाहकृत ॥ ३६ ॥

अ० हृ० सू० अ० २५

"यह सलाई जिसका मुँह कोलास्थि (बदरास्थि या बेर के बीज के अर्ध भाग) समान हो। नाक के भीतर मसा, दाने आदि जलाने के लिए उपयुक्त होती है।"

(१०) अंजन शलाका—सुरमा या अंजन लगाने की सलाई बीच में कुछ मोटी तथा सिरों की ओर अपेक्षाकृत पतली होती है। ये सलाइयाँ ताँबा, (ताम्र), जस्ता (यशद), पीतल (पित्तल), सीसा (सीसक) आदि की होती हैं। सुश्रुत ने शलाका यन्त्रों की गणना में अंजन शलाका के लिए लिखा है :—

अञ्जनार्थमेकं कलाय परिमंडलमुभयतोमुकुलाग्रं।

"अंजन की सलाई एक होती है जो मटर के दाने इतनी मोटी (कलाय परिमंडल) और दोनो सिरों पर कली (मुकुल) पुष्प-कलिका की तरह मृदु और स्थूल होनी चाहिये।"

मुख्योः कुंठिता श्लक्ष्णा शलाकाष्टांगुलान्विता।
अश्मजा धातुजा वा स्यात्कलाय परिमण्डला ॥ ७४ ॥
शार्ङ्गधर सं० उत्तर खंड अ० १३

"पाषाण की अथवा सुवर्णादि धातुओं की ऐसी सलाई आठ अँगुली की कर के उसका मुख गोल करे, परन्तु बारीक न करे तथा वह मटर के दाने के समान सुन्दर गोल होनी चाहिये।"

ताम्रलोहाश्म संजाता शलाका लेखने मता
सुवर्णरजतोद्भूता शलाका स्नेहनेमता ॥ ७२ ॥
अँगुली च मृदुत्वेन कथिता रोपणेबुधैः ॥
शा० उत्तर खंडे अ० १३

"लेखन अंजन में ताँबे की या लोहे की अथवा पत्थर की सलाई की योजना करे। स्नेहन अंजन में सोने की अथवा चाँदी की सलाई की योजना करे तथा उँगली में ही नम्रता है। इसलिए रोपण अंजन में उँगली की योजना करे अर्थात् उँगली से लगावे।"

(११) मूत्रमार्गशोधनी शलाका—सुश्रुत ने इसके सम्बन्ध में लिखा है :—

मूत्रमार्गविशोधनार्थमेकं मालतीपुष्पवृन्ताग्रप्रमाणपरिमंडलमिति।१४।
सु० सू० अ० ७

"एक सलाई मूत्रमार्ग के शोधनार्थ होती है जो चमेली (मालती) के फूल के नलिकाकार वृन्त (पुष्पदंड या नाल) की तरह गोल हो।"

पुरुषों के लिए जो मूत्र-मार्ग शोधनी शलाका होती है, उससे भिन्न स्त्रियों के लिए होती है।

इन रूपों में जिन यन्त्रों का वर्णन तथा प्रकार-भेद व्यक्त किया गया है, वह शल्यकर्म के व्यापक क्षेत्र को प्रकट करता है। ये उपकरण

या यन्त्र चीर-फाड़ या काट-छाँट न कर अन्य रूपों में सहायता या उपचार कर रोगों के शमन में भाग लेते हैं। प्राचीन ग्रंथों में इनके चित्र भी मिलते हैं।

यन्त्रों के निर्माण और उपयोग में सावधान रखने के लिए उनकी त्रुटियों का भी वर्णन पाया जाता है। (१) वे आवश्यकता से अधिक मोटे न हों, (२) उनका धातु भी भ्रष्ट या दुर्बल न हो (३) बहुत ही लंबे न हों। (४) बहुत ही छोटे भी न हों। (५) दस्ते भी ठीक न होना हानिकर है। (६) शल्य ठीक पकड़ सकने में असमर्थ यन्त्र न हो। (७) सीधे यन्त्र के स्थान पर टेढ़ा-मेढ़ा होना भी उचित नहीं। (८) विशेष ढीला यन्त्र भी बेकार है। (९) उसका कोई भाग विशेष उठा होना असुविधाजनक है। (१०) उनके जोड़ने वाली कील ढीली होना उचित नहीं। (११) बहुत कोमल मुख का अस्त्र भी काम नहीं देता। (१२) ढीली फाँस का यन्त्र भी उचित नहीं।

इन बारह दोषों की सुश्रुत ने निम्न रूप में गिनती की है :—
तत्र (१) अति स्थूलं (२) असारं (३) अति दीर्घं (४) अति ह्रस्वं (५) अग्राही (६) विषमग्राही (७) वक्रं (८) शिथिलं (९) अत्युन्नतं (१०) मृदुकीलं (११) मृदुमुखं (१२) मृदुपाशमिति द्वादश यन्त्र दोषाः ॥ १९ ॥

सु० सू० अ० ७

असावधानी से बने यन्त्रों में उपर्युक्त दोषों में से कुछ या अनेक आ सकते हैं। अतएव उनको उत्कृष्ट रूप का बनाने के लिए चेतावनी उद्धृत करने का हमारा यही उद्देश्य है कि हम इस बात का अनुभव करें कि चिकित्सा क्षेत्र में भी कितनी यन्त्र-कुशलता प्राप्त की जा सकी थी।

यन्त्रों के वर्णन के साथ अन्य सहायक वस्तुओं या स्थानापन्न

उपकरणों को उपयंत्र नाम देकर प्राचीन लेखकों ने एक मनोहर प्रसंग ही उल्लिखित किया है। धातु के पुष्ट यंत्र ही सब जगह सुलभ या उपयोगी तो नहीं हो सकते; यन्त्रों के अभाव में या आवश्यकता के समय में कोई भी अन्य सहज सुलभ पदार्थ उपयोगी हो सकने से इन उपयन्त्रों का उपयोग वांछनीय है। अन्तर्छाल या बेलें, बाल, कपड़े, चमड़े आदि तो उपयोगी हो ही सकते हैं किन्तु हथेली, उँगली, जीभ, दाँत, नाखून, मुँह आदि भी काम दे सकते हैं। अतएव इनकी गणना भी उपयन्त्रों में की गई है। सुश्रुत ने कुल २५ उपयन्त्र बताए हैं :—

उपयन्त्राण्यपि-रज्जुवेणिकापट्ट चर्मान्तर्वल्कललतावस्त्राष्ठीलाश्म-मुद्गरपाणिपादतलाङ्गुलि जिह्वा दन्त नख मुखबालाश्वकटक शाखा-ष्ठीवन प्रवाहण हर्षायस्कान्तमयानि क्षाराग्निभेषजानि चेति ॥ १५ ॥

सु० सू० अ० ७

(१) रज्जु—डोरी या सूत।
(२) वेणिका—बटी हुई डोरी।
(३) पट्ट—रेशम का कपड़ा; बंधन या पट्टी आदि के लिए।
(४) चर्म—चमड़ा
(५) अन्तर्वल्कल—पेड़ों की भीतरी छाल।
(६) लता—बेलें ही रस्सी की जगह बंधन के काम आ सकती हैं।
(७) वस्त्र—कपड़े की पट्टी
(८) अष्ठीलाश्म—लंबा गोल पत्थर जिसका उपयोग हड्डियों के शल्य हिलाने में हो सकता है।
(९) मुद्गर—काठ या लोहे की हथौड़ी या मुँगरी।
(१०) पाणितल—हथेली
(११) अंगुलि—उंगली

(१२) जिह्वा—जीभ

(१३) दन्त—दाँत

(१४) नख—नाखून

(१५) मुख

(१६) बाल

(१७) अश्वकटक—घोड़े की लगाम जिसका उपयोग हड्डी में दृढ़ता से अटके शल्य को निकालने में किया जा सकता है। ऐसे शल्य को घोड़े की लगाम में इस प्रकार रस्सी से जोड़ दिया जाता है कि चाबुक मारने पर घोड़ा रस्सी खींच कर शल्य भी निकाल देता है।

(१८) शाखा—पेड़ की डाल। किसी डाल को झुका कर उससे शल्य का सम्बन्ध कर झटके से डाल छोड़ देने पर शल्य भी तुरन्त उसके तनाव के साथ बाहर आ जाता है।

(१९) ष्ठीवन—जोर से खाँसने या थूकने से गले का शल्य बाहर आ सकता है।

(२०) प्रवाहण—जोर लगाकर वायु के बल कोई वस्तु बाहर करना।

(२१) हर्ष

(२२) अयस्कान्त—चुम्बक

(२३) क्षार—विदग्धक रासायनिक पदार्थ।

(२४) अग्नि—जलाना

(२५) भेषज—औषधियों का प्रयोग।

वाग्भट ने भी उपयंत्रों का वर्णन किया है किन्तु उसने निम्न दस उपयंत्रों को छोड़ दिया है :—वेणिका, अन्तर्वल्कल, लता, अँगुली, अश्वकटक, ष्ठीवन, प्रवाहण, क्षार, अग्नि तथा भेषज; किन्तु चार अन्य उपयन्त्रों की व्याख्या उसने की है :—अन्त्र, काल, पाक, भय।

समय की प्रतीक्षा करना जिससे व्रण दब या पक जाय, एक अमूर्त वस्तु ही है, परन्तु यह भी एक घाव अच्छा होने का मार्ग कहा जा सकता है। पाक का अर्थ घाव को स्वयं पकने देने तक चुप लगाये रहना है और भय का तात्पर्य हम शल्य कर्म या उपचार के समय रोगी के उत्पात करने पर डरा कर चुप कराने से ले सकते हैं परन्तु आन्त्र की गणना उपयन्त्रों में वाग्भट के पहले कहीं भी नहीं पाई जाती। रूप के बन्धन में हम ताँतों (सूखी आँतों) का प्रयोग आज भी देखते हैं, परन्तु शास्त्रीय रूप में चिकित्सा पद्धति में बन्धन के लिए वाग्भट द्वारा सूखी आँत या ताँत (आन्त्र) के उपयोग का उल्लेख हमें कुछ समाज की बदली हुई स्थिति या ज्ञान क्षेत्र में अन्तर उपस्थित होने की बात प्रकट करता है। वाग्भट ने उपयंत्रों का निम्न रूप में उल्लेख किया है :—

अनुयन्त्राण्ययस्कान्त रज्जु-वस्त्राऽश्म-मुद्गरः।
पट्टान्त्र जिह्वा बालाश्च शाखा नख मुख द्विजाः ॥३९॥
कालः पाकः करः पादो भयं हर्षश्च तत्क्रियाः
उपायवित प्रविभजेदालोच्य निपुणं धिया ॥४०॥

"अनुयन्त्र १९ हैं :—अयस्कान्त, रज्जु, वस्त्र, अश्म, मुद्गर, पट्ट, आन्त्र, जिह्वा, बाल, शाखा, नख, मुख, द्विज (दाँत), काल, पाक, कर, पाद, भय और हर्ष। कुशल वैद्य बुद्धि से उनकी क्रियाओं को ठीक विचार कर निश्चय करें।

ताँत के उपयोग में भेड़, बकरी का वाग्भट के भाष्यकार ने नाम लिया है।

आन्त्रं मेषादिनां शुष्कान्त्रमिति ख्यातं शस्त्रछेदानन्तर सूक्ष्म सिरादि बन्धनादिषु युज्यते।

—वाग्भटार्थ कौमुदी

"भेड़, बकरी की सूखी आँत (ताँत) को आन्त्र कहते हैं। यह चीर-फाड़ के बाद पतली नसों को बाँधने के काम में आती है।"

जो उपकरण कुन्दमुख हैं, तथा शरीर के किसी भाग में फँसे या उत्पन्न हुए शल्य—कील, काँटे, बाण, गोली या व्रण आदि को टटोलने, अवस्था ज्ञात करने, पकड़ने, नोचने, जलाने या अवस्था ज्ञात करने के लिए ही उपयुक्त हो सकते हैं उनको यन्त्र या उपयन्त्र नाम दिया गया है, किन्तु जो तीक्ष्ण धार या नोक वाले उपकरण हैं, जिन्हें किसी अंग के काटने-पीटने, चीरने-फाड़ने आदि में उपयोग किया जाता है उनका शस्त्र नाम दिया गया है। शस्त्र शब्द तो व्यापक है। भिन्न-भिन्न उपयोगों या धंधों के लिए भिन्न-भिन्न शस्त्र होते हैं। बढ़ई के शस्त्र बसूले, आरी, रुखानी, बरमी आदि हैं। लुहार, सुनार के शस्त्र धातु काटने की कैंची, रुखानी आदि हैं। दर्जी के शस्त्र सुई, कैंची आदि हैं, कृषिकर्मी के शस्त्र कुदाल, फावड़े, हल आदि हैं, सैनिक के शस्त्र तलवार, बर्छे, आदि हैं। इन्हीं के अनुरूप वैद्य या चिकित्साशास्त्री के भी कुछ शस्त्र होते हैं। उन्हें प्राणियों के शरीर पर ही उपयोग करने के कारण कुछ अन्य नाम नहीं दिये जा सकते, परन्तु एक विशेष धंधे के शस्त्र होने से उन्हें चिकित्सा-शस्त्र या शल्यशास्त्रीय शस्त्र कह सकते हैं।

सुश्रुत ने ऐसे शस्त्रों की बीस गिनती बताई है जिनके नाम निम्न प्रकार हैं:—

विंशति शस्त्राणि, तद्यथा (बीस शस्त्र होते हैं जो इस प्रकार हैं।) (१) मण्डलाग्र (२) करवृद्धि (३) वृद्धिपत्र (४) नख शस्त्र (५) मुद्रिका (६) उत्पलपत्र (७) अर्धधार (८) सूची (९) कुशपत्र (१०) आटीमुखी (११) शरारी मुख (१२) अन्तर्मुख (१३) त्रिकूर्चक

(१४) कुठारिका (१५) ब्रीहिमुख (१६) आरा (१७) वेतसपत्रक (१८) वडिश (१९) दन्तशंकु (२) एषण्य इति ॥३॥

सु० सू० अ० ८

इन बीसों शस्त्रों को पृथक्-पृथक् शस्त्र कहने के स्थान पर इन्हें बीस भेद कहा जाय तो अधिक अच्छा हो। प्रत्येक भेद या प्रकार में पुनः अनेक रूप के शस्त्र हो सकते हैं। इन भेदों के यन्त्रों का वर्णन पढ़ने के पूर्व हमें यह ज्ञात कर कुछ विस्मय हो सकता है कि वाग्भट के वर्णन में २० की जगह २६ शस्त्र मिलते हैं। इसका अर्थ तो यही कहा जा सकता है कि सुश्रुत की रचना के समय ही भारतीय शल्य-विज्ञान की अंतिम सीमा नहीं पहुँच गई थी। बल्कि उसका विकास होकर वाग्भट के समय में शस्त्रों की संख्या बढ़े रूप में प्रकट हो सकी।

शस्त्रों की उत्कृष्टता की ओर कितना ध्यान रक्खा जाता था इसके सम्बन्ध में सुश्रुत का निम्न आदेश पाते हैं:—

तानि सुग्रहाणि सुलोहाणि, सुधाराणि, सुरूपाणि, सुसमाहित-मुखाग्राणि, अकरालानि चेति शस्त्र सम्पत् ॥८॥

—सु० सू० अ० ८

"अच्छे शस्त्र वे होते हैं जो अच्छी मूँठ (मुष्टि) या दस्ते सहित हों, उत्कृष्ट लोहे के हों, जिनकी धार तेज हो, जिनका सुन्दर रूप हो, जिनका मुखाग्र या फलक सुन्दर निर्मित (सुसमाहित) हो, और जो दाँतों हीन (अदन्तुर या अकराल) हों अर्थात् जिनकी धार खुरदरी न हो।"

वाग्भट ने शस्त्रों के गुण निम्न प्रकार वर्णन किये हैं:—

षड्विंशतिः सुकर्मारैर्घटितानि यथाविधि
शस्त्राणि रोमवाहीनि बाहुल्यंनांगुलानिषट् ॥२॥

सुरूपाणि सुधाराणि सुग्रहाणि च कारयेत ।
अकरालानि सुध्मात सुतीक्ष्ण वर्त्तितेऽयसि ।।३।।
समाहित मुखाग्राणि नीलाम्भोजच्छवीनि च ।
नामानुगतरूपाणि सदासन्निहितानि च ।।४।।
स्वोन्मार्द्ध चतुर्थांश फलान्येकैकशोऽपि च ।।
प्रायो द्वित्राणि युञ्जीत तानि स्थान विशेषतः ।।५।।

अ० सू० अ० २६

"२६ शस्त्र होते हैं जो भली प्रकार कुशल कारीगरों द्वारा निर्मित हों और छः अंगुल (साढ़े चार इंच) लंबे, सुडौल, तीक्ष्ण धार युक्त, सुन्दर मूँठ (दस्तों) वाले, धार में खुरदरापनहीन (अकराल), उत्तम लोह निर्मित, तथा अच्छे फलकों (मुखाग्र) सहित, नीले कमल के सदृश दीप्तिमान, नाम के अनुसार आकृति वाले, सदा तैयार (सन्नि-हित) रहने वाले हों। प्रत्येक प्रकार के शस्त्रों की जो निर्धारित माप हो, उसकी आधी और चौथाई माप के फलकों वाले शस्त्र भी विशेष उपयोगों के लिए दो-तीन हों।

सुश्रुत ने कुशल मिस्त्रियों से शस्त्रों के निर्माण का आदेश निम्न प्रकार दिया है:—

शस्त्राण्येतानि मतिमान् शुद्ध शैक्यायसानि तु ।
कारयेत् करण प्राप्तं कर्मारं कर्मकोविदम् ।।१६।।

सु० सू० अ० ८

"इन शस्त्रों को बुद्धिमान शल्यकर्मी (चिकित्सक) उत्तम तीक्ष्ण लोहे (शुद्ध शौक्य अवस) से ऐसे लोहार या मिस्त्री (कर्मार) द्वारा बनवाये जो उपयुक्त उपकरणों को रखने वाला (करण प्राप्तं) हो और अपनी निर्माणकला में चतुर (कर्म कोविद) भी हो।"

उपयोग करने के समय शस्त्र किस प्रकार तैयार रक्खा जाय उसका भी चित्रण सुश्रुत ने किया है:—

यदा सुनिशितं शस्त्रं रोमच्छेदि सुसंस्थितम् ।
सुगृहीतं प्रमाणेन तदा कर्मसु योजयेत ॥

"शस्त्र को उचित रूप में काम में उस समय लाना चाहिए जब वह सान (शाण) चढ़ा कर तीक्ष्णधार का बना दिया गया हो (सुनिशितं), रोएँ काट सकता हो, (रोमच्छेदी), सेमर की सिल्ली पर रगड़ कर धार बराबर कर ली गई हो (सुसंस्थितम्), सुन्दर मूँठ भी लगी हो।"

धार तीव्र करने की विधि भी सुश्रुत ने लिखा है:—

तेषां निशानार्थं श्लक्ष्णशिला माषवर्णा: धारा संस्थापनार्थं शाल्मलीफलकमिति ॥१३॥

—सु० सू० अ ८

"उन शस्त्रों पर धार की तीक्ष्णता के लिए सान चढ़ाने के लिए कोमल या चिकना (श्लक्ष्ण) शिलाखंड हो जो उड़द के रंग का हरा या काला (माषवर्णा) होना चाहिए। तथा धार व्यवस्थित करने के लिए सेमर की पट्टी या सिल्ली होनी चाहिए।"

शस्त्रों को दोषहीन बनाने के लिए दोषों की संख्या आठ है। सुश्रुत तथा वाग्भट दोनों में ही इनका उल्लेख है। वाग्भट ने लिखा है :—

कुण्ठ खण्ड तनु स्थूल ह्रस्व दीर्घत्व वक्रता।
शस्त्राणां खर धार त्वमष्टौ दोषा: प्रकीर्तिता: ॥३१॥

अ० हृ० सू० अ० २६

सुश्रुत ने भी लिखा है:—

तत्र वक्रं, कुण्डं, खण्डं, खरधारं अतिस्थूलं, अतितुच्छं, अति दीर्घं, अति ह्रस्वमिति अष्टौ शस्त्र दोषा: ॥६॥

सु० सू० अ० ८

आठ दोष ये हैं:—(१) वक्र—टेढ़ा, (२) कुण्ठित—कुंदधार (३)

खंड—टूटा हो (४) खरधार—धार खुरदरी हो (५) अति स्थूल—अधिक मोटा (६) अति तुच्छ—बहुत हल्का (७) अति दीर्घ—बहुत लम्बा तथा (८) अति ह्रस्व—बहुत छोटा।

शस्त्रों के जो प्राचीन नाम हैं उन नामों से ही शस्त्रों का आकार अनुमानित किया जा सकता है। किसी व्यक्ति के नाम पर उनके नाम प्रसिद्ध नहीं हैं। कुछ का नाम तो वर्णनात्मक है, कुछ के नाम उन अंगों के सूचक हैं जिन पर उनका उपयोग किया जाता है तथा कुछ पशुओं और वनस्पतियों के आकार के अनुसार पड़े हैं। कुछ नाम ऐसे हों जो तत्कालीन जनता में प्रसिद्ध थे, परन्तु शास्त्रीय नाम भी वे ही रख कर परिवर्तित नहीं किये गये। आगे शस्त्रों का कुछ वर्णन दिया गया है।

मण्डलाग्र—इसे तीक्ष्ण चमचा कह सकते हैं। जिस शस्त्र का आगे का सिरा गोलाकार (मंडलाकार या वृत्ताकार हो) उसे मंडलाग्र शस्त्र कहेंगे। यह अपनी तीक्ष्ण गोल धार से खुरचने का कार्य कर सकता है। काटना (छेदन) तथा खुरचना (लेखन) इसका उपयोग सुश्रुत ने उल्लेख किया है। इसकी लंबाई लगभग ४½ इंच या या छः अंगुल होती है। अँग्रेजी में इसे शार्पस्पून या क्युरेट कहते हैं।

वाग्भट ने लिखा है :—

मण्डलाग्रं फले तेषां तर्जन्यन्तर्नखाकृति।
छेदने लेखने योज्यं पोथकीशुण्डिकादिषु ॥६॥

अ० हृ० सू० अ० २६

"मंडलाग्र नाम शस्त्र के फलक की आकृति तर्जनी अंगुली (अंगूठे के पास की अंगुली) के नख के भीतरी भाग की तरह होती है और इसका प्रयोग पलकों के छोर पर भीतरी भाग में उभरे दानो

या कुनेर (पोथकी) और गले के कौए (शुण्डिका) को छीलने में होता है।

सुश्रुत ने इसके उपयोग के विषय में लिखा है —

मंडलाग्रं किंचिदुत्तानेन पाणिना लेखने बहुशोऽवचार्यं।

"मंडलाग्र को कुछ उठे हुए हाथ से पकड़ कर खुरचने के अनेक प्रकार के कामों में उपयोग करना चाहिए।"

करपत्र—बढ़ई की आरी को हम जानते हैं, परन्तु करपत्र नाम भूल गये हैं। जिस प्रकार हथेली से अंगुलियाँ फूट निकली होती हैं उसी प्रकार जिस शस्त्र के छोर पर अंगुलियों सदृश उभाड़ या निकले भाग या दाँते हों उसे करपत्र कहते हैं। वाग्भट ने इसके संबंध में लिखा है :—

छेदेऽस्थ्नां करपत्रं तु खरधार दशांगुलम्।
विस्तारेद्व्यङ्गुलं सूक्ष्म दन्तं सुत्सरुबन्धनम् ॥१८॥

अ० हृ० सू० अ० २६

"आरी (करपत्र) का उपयोग अस्थियों के काटने में होता है। यह खुरदरी धारों वाली १० अंगुल लंबी, २ अंगुल चौड़ी छोटे-छोटे दाँतों वाली होती है और सुन्दर मूँठ से जड़ी होती है।"

वृद्धिपत्र—इसे छुरा कह सकते हैं। वृद्धि नामक एक वनस्पति के पत्तों समान जो शस्त्र अपने फलक रखता है उसका नाम वृद्धिपत्र है। इसके फलक में अगला शीर्ष या नोक मुड़ी हो तो उसे अञ्चिताग्र कहते हैं और नोक चौड़ी आयताकार हो तो उसे प्रयताग्र कहते हैं। वाग्भट ने वृद्धिपत्र का निम्न वर्णन दिया है :—

वृद्धिपत्र क्षुराकारं छेदन भेदन पाटने।
ऋज्वग्रमुन्नते शोफे गंभीरे च तदन्यथा॥
नताग्रं पृष्ठतो दीर्घं ह्रस्ववक्त्रं यथाऽऽशयम्॥

"वृद्धिपत्र नामक शस्त्र छुरा की तरह होता है। काटने (छेदन), छाँटने (भेदन) और पाटन में इसका उपयोग होता है। अगला सिरा सीधा होता है और उभड़े हुए फोड़ों में काम आता है। गहरे व्रण में टेढ़े सिरे का वृद्धिपत्र उपयुक्त होता है जो पीछे की ओर लंबा और छोटी नोक वाला होता है।"

नखशस्त्र—इसे नहरनी कहते हैं जो नाखून काटने के काम आती है। वाग्भट ने लिखा है :—

वक्रर्जुधारं द्विमुखं नखशस्त्रं नवाङ्गुलम्।
सूक्ष्मशल्योद्धृतिच्छेदभेदप्रच्छन्न लेखने ॥२०॥
अ० हृ० सू० अ० २६

"नख काटने वाला शस्त्र टेढ़ी और सीधी नोक वाला और दो मुखी होता है। यह नौ अंगुल लंबा होता है तथा काटने, छाँटने और खुरचने के काम आता है।"

सुश्रुत ने इस शस्त्र को आठ अंगुल लंबा और आधा अङ्गुल चौड़ा बताया है।

मुद्रिका शस्त्र—अँगूठी (मुद्रिका) में जड़े होने से यह शस्त्र मुद्रिका शस्त्र कहा जाता है। गहरे स्थानों में जहाँ हाथ न जा सकता हो, वहाँ इस शस्त्र का प्रयोग किया जाता है। बघनखा भी इसी तरह का शस्त्र रहा होगा जिसकी सहायता से शिवाजी द्वारा अफ-जल खां का बध माना जाता है। अँगुलियों में छिपा रखकर इससे शत्रु पर प्रहार करना संभव है। भालुकि तंत्र में मुद्रिका शस्त्र का निम्न प्रकार उल्लेख है :—

मुद्रिकायां निबद्धं स्याद् वृद्धिपत्र सलक्षणम्।
द्वयङ्गुलं मुद्रिका शस्त्रं क्षुरसंस्थानमेव च ॥

"मुद्रिका शस्त्र वृद्धिपत्र के समान आकार का तथा छुरे की

तरह होता है। यह परिमाण में दो अंगुल का तथा मुद्रिका (छल्ले) से बँधा होता है।"

वाग्भट ने लिखा है :—

मुद्रिका निर्गत मुखं फले त्वर्द्धांङ्गुलायतम्।
योगतो वृद्धिपत्रेण मंडलाग्रेण वा समम् ॥१५॥
तत्प्रदेशिन्यग्रपर्व - प्रमाणार्पणमुद्रिकम्।
सूत्रबद्धं गलस्रोतो रोग छेदन भेदने ॥१६॥

अ० हृ० सू० अ० २६

"अंगुलि शस्त्र का मुख (फलक) अँगूठी से निकला हुआ हो उसका फलक आधी अँगुल का हो और वृद्धिपत्र या मंडलाग्र के समान हो। प्रदेशिनी अँगुली के अगले पोर (पर्व) के समान अँगूठी हो जो तागे द्वारा मणिबंध से बँधी हुई हो। यह गले और अन्य छेदों (स्रोतों) के रोग में काम आती हैं।"

वाग्भट के बताये मुद्रिका शस्त्र को अंगुलि शस्त्र नाम मिला है। इसमें पार्श्व भाग में फलक वा शल्य छेदक भाग लगा होता है। किन्तु मुद्रिका शस्त्र में बर्छे की तरह सामने की ओर निकला फलक होता है। जो दो पादों पर अँगूठी के दो सिरों पर जुटा होता है। अँगुली में पहनने पर यह अँगुली के सिरे की ओर फलक रखता है।

उत्पलपत्रक या *कमलपत्रक*—उत्कल का अर्थ कमल है। कमल (उत्पल) की एक पंखुड़ी के समान फलक वाला शस्त्र उत्पल पत्रक कहलाता है। इसे नोकदार चाकू कह सकते हैं। चेचक का टीका लगाने वाला चाकू इसी भाँति का होता है।

अर्धधार—अर्धधार शस्त्र का अर्थ है आधी धारा वाला हथियार। इसकी आधी धारा ही तीक्ष्ण होती है और शेष आधी कुन्द होती है। इसका भी कार्य काटना-छाँटना है। वाग्भट ने

उत्पल पत्र तथा अर्धधार को एक ही शस्त्र माना है। अष्टांग हृदय में उल्लिखित है :—

उत्पलाध्यर्द्ध धाराख्ये छेदने-भेदने तथा।

अ० हृ० सू० अ० २६

उत्पल तथा अर्धधार छेदन और भेदन कार्य में आते हैं।

सूची—घाव या चीर-फाड़ के भाग को सीने के लिए सुई का उपयोग होता है। सीधी सुई (सरल या ऋजु सूची) चमड़े के क्षत भाग या ऊपरी व्रण को सीने में उपयुक्त होती है; परन्तु गहरे व्रण के लिए वक्र सुई काम आती है। वक्र सूची दो प्रकार की होती है। एक धनुष की भाँति गोल होती है। इसलिए उसे धनुर्वक्र कहते हैं। दूसरी सूई सिरे के भाग में ही मुड़ी या आधी गोल होती है उसे अर्धवक्र सूची कहते हैं। इन सुइयों का अग्रभाग पतला और नोकीला होता है। दूसरे सिरे पर छेद में सूत्र डाला जाता है। नोकीले सिरे से पीछे की ओर धीरे-धीरे सुई मोटी होती जाती है जिससे अति सूक्ष्म तीक्ष्ण सिरे के पहले त्वचा मांस आदि में सहज ही प्रवेश करने के बाद धीरे-धीरे छेद बढ़ने से अन्य स्थूल भाग भी प्रवेश कर तागे को स्थान दे सके। वाग्भट ने लिखा है :—

वृत्ता गूढ़ दृढा पाशे तिस्रः सूच्योऽत्र सीवने।
मासलानां प्रदेशानां त्र्यस्रा त्र्यङ्गुलमायत ॥२२॥
अल्पमांसास्थि सन्धिस्थ व्रणानां द्व्यङ्गुलायता।
व्रीहिवक्त्रा धनुवक्रा पक्वामाशय मर्मसु ॥

"सीने के लिए तीन प्रकार की सुइयाँ होती हैं। ये गोल होती हैं और गहराई में दृढ़ता से सीकर बाँधने के काम में आती हैं। त्रिकोण तथा तीन अंगुल लम्बी सुई मांसल प्रदेश में सीने के काम आती है।

"जिन स्थानों में मांस थोड़ा होता है अथवा अस्थियों की संधियाँ होती हैं। उस स्थान के व्रणों को सीने के लिए दो अंगुल की सुई होती है। पक्वाशय आमाशय आदि मर्म स्थान के व्रणों को सीने के लिए जौ के समान नोकीली मुखवाली अथवा धनुष के समान मुड़ी सुई होती हैं।"

कुशपत्र—कुश या डाभ के पत्ते समान शस्त्र को कुशपत्र नाम दिया गया है। यह नोकीला, दोहरी धारयुक्त और लंबे फलक का होता है।

आटीमुख—आटी नामक कोई जलपक्षी होता है। उसकी चोंच के समान यह शस्त्र होता है। इसका कार्य फाड़ना (विस्रावण) उल्लिखित है।

शरारीमुख—यह शस्त्र कैंची (कर्तरी) ही है। सुश्रुत ने तो इसको कर्तरी ही कहा है, किन्तु वाग्भट ने शरारीमुख तथा कर्तरी दो भिन्न-भिन्न शस्त्र उल्लिखित किये हैं। डल्हण ने सुश्रुत संहिता का भाष्य करते समय लिखा है कि शरारी नाम के पक्षी की लंबी चोंच होती है। श्वेत तथा लाल गर्दन की दो चिड़ियाँ होती हैं। उनमें श्वेत गर्दन वाली चिड़िया शरारी कही जाती है। उसके मुख समान शस्त्र को शरारी मुख कहते हैं। वह बारह अंगुल लम्बी होती है। उसे कर्तरी (कतरनी) भी कहा जाता है। डल्हण ने कतरनी या कैंची रूप के इस पतले और लंबे फलकों के शस्त्र को चलत्पलाशा नाम भी व्याख्या करने के रूप में दिया है। पलाशा का अर्थ पक्ष है। जिसके दोनों पक्ष चलते हों उसे चलत्पक्षा या चलत्पलाशा कहना चाहिये। इन शब्दों को हम कैंची की जगह आज भी प्रचलित कर सकते हैं। स्वस्तिक यन्त्र भी चलत्पलाशा कहा जा सकता; है किन्तु वह स्थूलमुखी यन्त्र है। शरारी मुख सूक्ष्म तथा तीक्ष्ण धार वाला

चलत्पलाशा नामक शस्त्र है। सुश्रुत ने तो यह लिखा है। 'दशाङ्गुला शरारीमुखी या सा कर्तरीति कथ्यते', अर्थात् शरारीमुख शस्त्र १० अंगुल का होता है जिसे कर्तरी कहते हैं। किन्तु वाग्भट ने लिखा है :–स्राव्ये शरार्यासाम् त्रिकूर्च्चके। अर्थात् "शरारी तथा त्रिकूर्च्चक शस्त्र स्रावण कार्य में प्रयुक्त होते हैं। ॥१०॥ तथा स्नायुसूत्रकचच्छेदे कर्त्तरी कर्त्तरीनिभा ॥१६॥ अर्थात् कर्तरी का काम स्नायु, सूत्र, कपड़ा तथा बाल आदि काटना है।"

अन्तर्मुख—यह अर्द्ध चन्द्राकार वक्र धार का शस्त्र है। यह आठ अङ्गुल लंबा होता है। भीतर की ओर झुका होने से इसे अन्तर्मुख कहते हैं।

त्रिकूर्चक—कूर्च का अर्थ कूची है। जिस शस्त्र में तीन कूचियाँ-सी हों उसे त्रिकूर्चक कहना चाहिये। यह पोंछने में काम आता है।

कुठारिका—कुल्हाड़ी या कुलिश का ही यह रूप है। कुठारिका का नाल (वृन्त) ७½ अङ्गुल लंबा और फलक आधा अङ्गुल चौड़ा होता है। इसका कार्य व्यधन है।

वाग्भट ने लिखा है :—

पृथुः कुठारी गोदन्तसदृशार्द्धांगुलानना।
तयोर्ध्व दण्डया विध्वेन्दुपर्यस्थ्नां स्थिता शिराम् ॥ १३ ॥

अष्टांग हृदय सू० अ० २६

"कुठारी मोटी और चपटी, गोदन्त के समान, आधा अङ्गुल चौड़े मुख की होती है। उसे ऊपर उठा कर हड्डियों के ऊपर स्थित व सम्बद्ध नसों को काटे।"

व्रीहिमुख—व्रीहि नाम का कोई अन्न है। उसके समान आकार वाला शस्त्र व्रीहि मुख है। यह जलोदर में जल निकालने में प्रयुक्त होता है। इसका नाल (वृन्त) २ अङ्गुल लंबा और फलक ४ अङ्गुल

लंबा होता है। इस शस्त्र का मुख लंबा और चौड़ा और अगला सिर काँटे के समान तीक्ष्ण होता है। कुछ परिवर्तन कर यह अण्ड-वृद्धि (मूत्रवृद्धि) में उपयोग में आता है। सुश्रुत ने लिखा है :—

मूत्रजा स्वेदयित्वातु वस्त्रपट्टेन वेष्टयेत्।
सेवन्याः पार्श्वतोऽधस्ताद्विध्येद् व्रीहिमुखेन तु ॥

सु० चि० अ० १६

"मूत्रजन्य वृद्धि में स्वेदन देकर वृद्धि को पट्टी से लपेट कर स्वेनी पार्श्व में नीचे की ओर व्रीहिमुख से वेधन करे।"

आरा—जन-साधारण करपत्र को ही आरा कहते हैं परन्तु यह शास्त्रीय आरा नाम मोची के उस शस्त्र का है जिससे वह जूता सीता है। वाग्भट ने लिखा है :—

आरार्धाङ्गुल वृत्ताऽस्या तत्प्रवेशा तथोर्ध्वतः।
चतुरस्त्रा तथा विध्येच्छोफं पक्वामसंशये ॥ २७ ॥

अ० हृ० सू० अ० २६

यह आरा नामक शस्त्र अर्धांगुल गोल मुख वाला तथा उस गोलाकार के ऊपर का भाग अर्धांगुलयुक्त चतुष्कोण होता है। पक्व और अपक्व का संदेह होने में इस आरा शस्त्र द्वारा ही सूजन का बध किया जाता है।

वेतस पत्र—बेंत के पत्ते समान सदंतु वृद्धि पत्र शस्त्र को वेतस-पत्र नाम दिया गया है।

वडिश—यह मुड़ी हुई नोक का शस्त्र है। मछली मारने की बंशी या काँटे (वडिश) या अंकुश के आकार का यह शस्त्र होता है। वडिश यन्त्र तो स्थूल सिरे का (स्थूलाग्र) होता है किन्तु यह तीक्ष्ण सिरे का (तीक्ष्णाग्र) होता है। वाग्भट ने लिखा है :—

वडिशोऽत्यवनतः सूचीतीक्ष्णाग्रो ग्रहणे गलशुण्डिकार्मादेः ।
ग्रहणे शुंडिकार्म्मादेर्वडिशं सुनतानम् ॥ १७ ॥
अ० हृ० सू० अ० २६

"वडिश नामक शस्त्र का मुख अंकुश के समान अच्छी तरह टेढ़ा होता है। यह शुंडिका, अर्म और प्रति जिह्वादि रोगों को ग्रहण करने में काम आता है।"

दन्त शंकु—यह शस्त्र दाँत की मैल को खुरचने में प्रयुक्त होता है। यह आधा अङ्गुल चौड़ा और शंकु के समान होता है। इसकी धार तीक्ष्ण होती है। वाग्भट ने लिखा है :—

एक धारं चतुष्कोणं प्रवृद्धाकृति चैकतः
दन्तलेखनकं तेन शोधयेद्दन्त शर्कराम् ॥ २१ ॥
अ० हृ० सू० अ० २६

"दाँत को खुरचने वाला (दन्तलेखनक) शस्त्र एक ओर धार-युक्त चौकोर तथा एक ओर बढ़ा हुआ होता है और दाँतों का मैल कुरेदने के काम आता है।"

एषणी--वाग्भट ने अष्टांग हृदय में इस शस्त्र के सम्बन्ध में लिखा है:—

गतेरन्वेषणे श्लक्ष्ण गण्डूपरमुखैषणी ।
भेदनार्थेऽपरा सूचीमुखी मूल निविष्टस्यां ॥
अ० हृ० सू० अ० २६

व्रण की गति का पता लगाने के लिए एषणी का प्रयोग होता है। यह कोमल और केचुआमुखी होती है। एक दूसरी सूई की नोंक के समान मुख वाली होती है जो छेदने के काम आती है। उसके मूल में तागा डालने का छिद्र होता है।

उपर्युक्त शस्त्रों में किन की धार कितनी मोटी होनी चाहिए इसका विवरण सुश्रुत ने निम्न प्रकार दिया है:—

तत्रधारा भेदनानां मासूरी लेखनानामर्धमासूरी व्यधनानां। विस्रावणानां च कैशिकी, छेदनानामर्ध कैशिकीति ।।१०।।

—सु० सू० अ० ८

वृद्धि पत्र, उत्पल पत्र के समान भेदन कार्य के शस्त्रों की धार मसूर दल के किनारे समान होनी चाहिए। दन्त शंकु, मंडलाग्र आदि शस्त्रों समान खुरचने वाले शस्त्रों (लेखन शस्त्रों) की धार उसकी आधी (अर्ध मासूरी), वेतस्पत्र, व्रीहिमुख आदि व्यधनशस्त्रों तथा आरा, सूची, त्रिकूर्चक आदि समान विस्रावण शस्त्रों की धार बाल तुल्य पतली (केशिकी) हो तथा करपत्र, वृद्धिपत्र और कर्तरी सरीखे छेदन शस्त्रों की धार बाल की मुटाई के आधे बराबर (अर्ध कैशिकी) होनी चाहिए।

वाग्भट ने भी लिखा है:—

धारा पुनश्छेदनानां मासूरी लेखनानामर्ध मासूरी।
व्यधनानां विस्रावणानां च कैशिकी।

—अ० हृ०

"भेदन कार्य में आने वाले शस्त्रों की धारा मसूर पत्र की धारा के समान और लेखन (खुरचने के) कार्य में अर्द्ध मसूर, व्यधन कार्य में आने वाले या शस्त्रों को धार केश के समान पतली होनी चाहिए।"

अनेक यन्त्र शस्त्रों के अतिरिक्त हमें अन्य यन्त्रों या शस्त्रों के भी वर्णन उल्लिखित मिलते हैं जिनका उपयोग वर्तमान समय में उन्हीं सिद्धान्तों पर पूर्व रूपों में ही या परिवर्तित रूपों में पाया जा सकता है। कुछ का प्रयोग अज्ञात या विस्मृत भी हो चुका है। सींग लगाने का प्रचार अब भी देखा जाता है। इसे शृङ्ग यन्त्र रूप में उल्लिखित पाया जाता है। वाग्भट ने लिखा है:—

त्र्यङ्गुलास्यं भवेच्छृंगम् चूषणे अष्टदशांगुलम् ।
अग्रेसिद्धार्थकच्छिद्रं सुनद्धं चुचकाकृति ।।२४।।

अ० हृ० सू० २५

"सींग यन्त्र का मुख तीन अंगुल और लम्बाई १८ अंगुल होनी चाहिए। अगला भाग साँप के मुख-सा छोटा और स्तन-मुखाकार तथा तागे या कपड़े से लिपटा (सुनद्ध) होना चाहिए।"

रोगी स्त्री के स्तन में विषाक्त दूध होने पर उसे बाहर निकालने में शृंग यन्त्र का उपयोग हो सकता है। परन्तु विकृत रक्त को शरीर के किसी भाग से निकालने के लिए पहले चमड़े का भाग क्षत-विक्षत कर लिया जाता है जिसे पच्छ लगाना चाहते हैं। इसके बाद शृङ्ग यन्त्र उस पर रख कर रक्त निकालने के लिए हवा चूस कर निकाली जाती है। सुश्रुत ने इसके प्रयोग के सम्बन्ध में लिखा है:—

तत्र प्रच्छिते तनुवस्त्रपटलावनद्धेन शृङ्गेण शोणितवसंचयेत आचूषणात्।

"पच्छ लगा कर और पतले वस्त्र से ढक कर शृङ्ग का मुख बाँध कर उसका प्रयोग रक्त निकालने के लिए किया जावे।"

अनुशस्त्र का उल्लेख करते हुए एक भाष्यकार ने लिखा है कि शस्त्र न होते हुए भी जो शस्त्र का कार्य करे उसे अनुशस्त्र कहते हैं (अशस्त्राण्येव शस्त्र कार्यं कुर्वन्तीत्यनुशस्त्राणि)। सुश्रुत ने अनुशस्त्रों में निम्न वस्तुओं की गिनती की है:—

अनुशस्त्राणि तु त्वक्सारस्फटिक काच कुरुविन्द जलौकाग्निक्षार-नख गोजीशेफालिकापत्र करीर बालाङ्गुलय इति ।।१५।।

सु० सू० अ० १८

"उपशस्त्र निम्न हैं:—बाँस (त्वक्सार), स्फटिक, काँच, कुरुविंद (एक कठोर पत्थर), जोंक (जलौका), अग्नि, क्षार, नाखून, गोभी

(गोजी), हरसिंगार के पत्ते (शेफालिका), करील, बाल और अंगुली ।"

इनका उपयोग शस्त्रों की जगह साधारण उपचारों में हो सकता है ।

अनेक रूपों के आवश्यक शस्त्रों को रखने की पेटी का भी वर्णन पाया जाता है जिसे शस्त्रकोश नाम दिया गया है । वाग्भट ने लिखा है:—

स्यान्नवाङ्गुल विस्तार: सुघनो द्वादशाङ्गुलः ।
क्षौमपत्रोर्ण कौशेय दुकूल मृदु चर्मजः ।।३५।।
विन्यस्त पाश: सुस्यूत: सान्तरोर्णस्थ शस्त्रक:
शलाका पिहितास्यश्च शस्त्रकोश: सुसंचय: ।।३६।।

अष्टांग हृदय सू० अ० २६

"शस्त्रकोश ६ अंगुल (६½ इंच) चौड़ा, १२ अंगुल (६ इंच) लंबा, मोटा हो और रेशम, कोमल पत्ते, ऊन, चमड़े, बंधन आदि ऊपर से सलाई लगा कर बंद किया जा सके ।"

तिक्तलौकी (तितलौकी) या कड़वे कद्दू की तुम्बी बनती है । उससे बना यन्त्र तुम्बी (अलाबु) पत्र कहलाता है । पक्के कद्दू को सुखाकर उसका मुँह काटकर अलाबु यन्त्र बनता है । सुश्रुत ने लिखा है :—

अलाबु कटुकं पक्षं तीक्ष्णं च प्रकीर्तितम्
तस्मात् श्लेष्मोपसृष्टे तु हितं तदवसेचते ।।७।।

सु० सू० अ० १३

"कड़ुआ, रूखा और तीखा होने से तुम्बी श्लेष्म विकृत रक्त के निकालने में प्रयुक्त होती है ।"

वाग्भट ने लिखा है :—

स्याद्द्वादशाङ्गुलाऽलाबुर्नाह्ये त्वष्टा दशाङ्गुलः
चतुस्त्र्यङ्गुल वृत्तास्यो दीप्तोन्तः श्लेष्म रक्तहृत् ।।२५।।

अ० हृ० सू० अ० २५

"तुम्बी (अलाबु) यन्त्र १२ अंगुल लम्बा, १८ अंगुल गोला हो तथा उसका मुख गोल तथा ३, ४ अंगुल चौड़ा हो। उसे भीतर की ओर प्रदाहित कर विकृत रक्त निकाले।"

यह क्रिया ओषजन की प्रक्रिया का एक सुन्दर उदाहरण है। पहले कोई वस्तु तुम्बी के भीतर जलाकर तुरन्त शरीर के किसी दूषित भाग पर रखने से भीतर की ओषजन जलने में व्यय हो जायगी अतएव शरीर के उस भाग से अपनी न्यूनता पूरी करना चाहेगी जो उसके मुख के नीचे हो। इस भाग को पच्छ करने अर्थात् चमड़ा किसी शस्त्र की नोंक से मार-मार कर क्षत-विक्षत करने पर तुम्बी के अन्दर से उस भाग पर रक्त का ऊपर की ओर सहज खिंचाव होगा। इसके लिए भाष्यकारों ने स्पष्ट लिखा है कि कपास, भोजपत्र आदि तुम्बी के भीतर जलाकर रक्त चूसने की प्रक्रिया कराई जाय। सुश्रुत ने इसके प्रयोग में पच्छ लगाने की व्यवस्था बताई है :—

प्रच्छिते शोणितमवसेचयेत सान्तर्दीपयाऽलाव्वा ।।८।।

सु० सू० अ० १३

"अलाबु (तुम्बी) यन्त्र भी पच्छ लगाकर रक्त निकाल फेंकने में प्रयुक्त किया जाता है। उसमें भीतर आग जला लेना चाहिए।"

बवासीर (अर्श) के मसे निकालने के लिए कोई यन्त्र होता है जिसे अर्शोतन्त्र कहा गया है।

वाग्भट ने लिखा है :—

अर्शसां गोस्तनाकारं यन्त्रकं चतुरंगुलम् ॥

अ० हृ० सू० अ० २५

"अर्शोयन्त्र (बवासीर का यन्त्र) गौ के स्तनों के सदृश्य चार अंगुल लम्बा होता है।"

यह यन्त्र किसी चिकनाई की सहायता से मलद्वार में प्रवेश कर बवासीर के मसे को छेद में फँसाने के लिए घुमाया जाता है। मसा फँस जाने पर क्षार या अग्नि से जला दिया जाता है। वाग्भट ने एक शमीयन्त्र का भी उल्लेख किया है और लिखा है कि शमीयन्त्र अर्शोयन्त्र की ही भाँति किन्तु छिद्रहीन होता है जिसका प्रयोग मसों के दबाने में होता है।"

शम्याख्यं तादृगछिद्रं यंत्रमर्शं प्रपीड़नम्

(वाग्भट)

भगंदर के भी नष्ट करने का कोई यन्त्र होता है जिसे भगंदर यंत्र कहते हैं। उसमें छिद्र के ऊपर का ओठ हटा दिया जाता है।

स्त्री जननेन्द्रिय की परीक्षा का भी यंत्र विचित्र होता है जिसे योनिव्रणेक्षण यंत्र कहते हैं।

वाग्भट ने लिखा है :—

योनि व्रणेक्षणे मध्ये सुषिरं षोडशाङ्गुलं।

मुद्राबद्धं चतुर्भित्तम्भोज मुकुलाननम्।

चतुः शलाकमाक्रान्तं मूले तद्विकसेन्मुखे ॥३१॥

अ० हृ० सू० अ० २५

"यह यंत्र बीच में खोखला (सुषिर), १६ अंगुल लम्बा, अँगूठी से बँधा हुआ, चार दीवालों वाला और कमल की कली के समान मुखवाला होता है। इसके मूल में चार सलाइयाँ होती हैं जिनका संबंध दीवालों से होता है। उन्हें दबाने से यंत्र का मुख खुल जाता है।"

इस वर्णन से ज्ञात होता है कि प्राचीन शल्य विज्ञान में स्त्री रोगों की चिकित्सा का ध्यान रक्खा गया था।

अन्य यन्त्रों में नाक में धुआँ लेने का एक यन्त्र धूमनेत्र नाम से ज्ञात है। सुश्रुत ने लिखा है :—

धूम्रनेत्रं तु कनिष्ठिका परिणाहमग्रे कलायमात्र स्रोतो मूलेङ्गुष्ठ परिणाहमित्यादि।

सु० चि० अ० ४० श्लो० ५

"धूम्रनेत्र आगे की ओर कनिष्ठिका अङ्गुली के समान मोटा, मटर के दाने योग्य छेदयुक्त, मूल में अँगूठे के समान मोटाई आदि का होता है।"

किसी लेखक ने इस यन्त्र को धूमनाड़ी नाम दिया है। वाग्भट ने अष्टांग हृदय में धूम्रनेत्र का निम्न वर्णन किया है :—

वस्तिनेत्रसमं द्रव्यं त्रिकोशं कारयेद्दजु।
मूलाग्रेऽङ्गुष्ठकोलास्थि प्रवेशं धूम्रनेत्रकम्॥ ८॥

अ० हृ० सू० अ० २१

"वस्ति का नेत्र जिन-जिन द्रव्यों से बनाया जाता है उन्हीं द्रव्यों में से किसी एक से धूम्रपान की नली बनवावे। इसमें तीन पर्व होना चाहिये तथा सीधी होनी चाहिये। इनके मूल भाग का छिद्र अङ्गुल प्रवेश के योग्य और अग्रभाग का छिद्र झरबेरी के प्रवेश योग्य बनावे।"

मल-मार्ग की शुद्धियाँ, भारी पेट हलका करने के लिए मल-मार्ग में पानी चढ़ाने की क्रिया एनिमा (वस्ति क्रिया) कही जाती है। इस यन्त्र की रचना में कहा गया है :—

मृगाजसूकरगवाँ महिषस्यापि वा भवेत्।
मूत्रकोषस्य वस्तिस्तु तदलाभेऽन्य चर्मजः॥ १२॥
कषायरक्तः सुमृदुर्वस्तिः स्निग्धो दृढोहितः।

"हिरन, बकरे, सूअर, गाय, भैंस के मूत्राशय से वस्ति बनावे। यदि मूत्राशय (मूत्र कोष) न प्राप्त हो सके तो दूसरे चमड़े से बना ले। यह काढ़े के रंग से रँगी, कोमल, चिकनी और दृढ़ होनी चाहिये।"

वाग्भट ने अ० हृ० सू० अ० १६ श्लो० २४–३२ में निम्न वर्णन दिया है :—

"मूत्र मार्ग के शोधन का भी यंत्र होता है जिसे मलद्वार की विपरीत दिशा में स्थित अङ्ग के लिए प्रयुक्त होने के कारण उत्तर-वस्ति नाम दिया गया है।" (गुदादुत्तरेण मार्गेण दीयते इत्युत्तर-वस्ति।—अरुणदत्त)

इन वर्णनों से हमें भारत के प्राचीन शल्यकारों के यंत्र तथा शस्त्र-ज्ञान तथा चिकित्सा-विज्ञान का कुछ परिचय प्राप्त होता है जिसका ज्ञान आज केवल जहाँ-तहाँ वैद्यक ग्रंथों में उल्लिखित पाया जा सकता है। उनका व्यावहारिक प्रयोग आज हमारे लिए एक स्वप्न की ही बात हो गई है। आज के देशी चिकित्सकों का ध्यान अब इस ओर अवश्य जाने लगा है, परन्तु कदाचित शल्य-विज्ञान के सम्बन्ध में कुछ यंत्रों तथा शस्त्रों के प्राचीन नामों के अतिरिक्त अन्य कुछ भी ज्ञान आज के शल्य-विज्ञान की दृष्टि में हमें अपने प्राचीन ग्रंथों से नहीं प्राप्त हो सकता। यदि मध्य युग की अंधकार-मय स्थिति में हमारा शल्य-विज्ञान अन्य सभी विद्याओं के साथ विस्मृत न किया जा चुका होता तो अन्य देशों की भाँति भारतीय चिकित्सकों को भी प्राचीन शल्य-विज्ञान को शनैः-शनैः विकसित कर आधुनिकतम शल्य-विज्ञान के अनुरूप बना सकने का अवसर ही नहीं मिला होता, प्रत्युत नयी-नयी शोधें प्रस्तुत कर हमारे देश को चिकित्सा-जगत में गौरव प्राप्त करने का अवसर मिला होता।

प्राचीन संसार का शल्य-विज्ञान

शल्य-विज्ञान अर्थात् चीर-फाड़ द्वारा शरीर का अवांछित या दूषित अंश पृथक् करने या किसी अन्य उद्देश्य से भी अस्त्र-शस्त्र द्वारा शरीर में कृत्रिम रूप से परिवर्तन करने की पद्धति संसार में प्राचीन काल में भी किसी न किसी रूप में रही होगी। बहुत अधिक प्राचीन काल के स्पष्ट प्रमाण या शल्य-विज्ञान के यथार्थ रूप को जान सकना कदाचित् कठिन ही हो। परन्तु कुछ सुलभ वर्णनों अथवा अप्रत्यक्ष आधारों पर विभिन्न देशों में, विभिन्न कालों में हमें शल्य-विज्ञान का जो रूप प्राप्त हो सकता है उसकी कुछ झाँकी दिलाने का हम यहाँ प्रयत्न करेंगे। अत्यन्त ही प्राचीन काल के विज्ञान का परिचय प्राप्त करने का अवसर भले ही प्राप्त न हो सकता हो; परन्तु शल्य-विज्ञान के सम्बन्ध में एक प्रकार का प्रमाण तो ऐसा प्राप्त होता है कि हम उसका काल सभ्यता की उस आदिम अवस्था को कह सकते हैं जिसे धातुओं का ज्ञान प्राप्त हो सकने के भी पूर्व का नवप्रस्तर युग नाम दिया जाता है। यह युग वह था जब हमें किसी भी जाति की संज्ञा से सभ्यता का विकास होने का उल्लेख करने का अवसर प्राप्त नहीं हो सकता। जातियाँ तो उस समय नाम धारण कर सकी होंगी जब उन्हें आरंभिक रूप के भी धातु-उपकरणों का ज्ञान होकर कृषि, व्यवसाय आदि का कुछ ऐसा रूप बनाने का अवसर मिल सका होगा कि उनके अवशेषों या उल्लेखों से हम उस काल या देश की उन्नति का कुछ परिचय प्राप्त

कर सकें। अतएव नव-प्रस्तर युग की शल्य-क्रिया का उल्लेख हमारे लिए अत्यन्त ही कौतूहलवर्द्धक हो सकता है। यह कितने आश्चर्य की बात है कि पैने तथा सूक्ष्म शस्त्रों को कौन कहे, साधारण, कुन्द धातु-उपकरणों के बना सकने का भी ज्ञान प्राप्त न हो सकने पर भी मानव ने किसी विधि से शल्य-क्रिया का प्रचार ही कर संतोष न किया, बल्कि अनजाने रूप से उसका प्रमाण भी पर्वत गुहाओं में छोड़ा।

नवप्रस्तर युग की इस प्राचीन शल्य क्रिया को सिर में फस्द लगाना या कपाल-भेदन क्रिया कह सकते हैं। ज्ञान का प्रकाश अत्यन्त धूमिल रूप में भी उदित न हो सकने से उस प्राचीन समय के मानव को प्रकृति की घटनाओं या परिवर्तनों को तो कुछ अदृश्य शक्तियाँ, देवी-देवताओं, प्रेतों आदि का ही कृत्य विश्वास करने की कल्पना की जा सकती है। अतएव शरीर के रुग्ण होने पर भी वह कुछ ऐसी ही कल्पना कर अनिष्टकारी प्रेतात्मा का परिणाम समझता होगा। अर्थात् उसकी दृष्टि में शरीर पर किसी रोग का प्रकोप होना रुग्णता का कारण नहीं था बल्कि कोई दुष्ट प्रेतात्मा रोगी के भेजे में प्रविष्ट हो गई होती। अतएव इस अंधविश्वास के परिणामस्वरूप रोग से मुक्ति पाने का एक मात्र मार्ग कपाल की अस्थि में द्वार बना कर उस दुष्ट प्रेतात्मा को भाग जाने का अवसर देना था। अतएव उस युग के मानवों में से किसी भूखंड के गुफा निवासियों में से अधिक कल्पनाप्रवर अथवा बुद्धिमान होने का दावा करने वाले कुछ व्यक्तियों ने सिर फोड़ने की परिपाटी या एक धार्मिक कृत्य का सूत्रपात किया होगा। आज सिर में कुछ गर्मी अनुभव होने पर कपाल के ऊपर थोड़ा स्थान बालशून्य करा देने के लिए हज्जाम की सहायता लेने वाले मनचले व्यक्ति दिखाई पड़ते हैं, परन्तु उन दिनों रोग रूपी दुष्ट प्रेतात्मा से छुट्टी पाने के लिए

रोगाक्रान्त व्यक्ति अपने समाज के अधिक चतुर व्यक्ति या चिकित्सक नाम से ज्ञात किसी समाज-नेता के पास पहुँचते जिसे हम आज की भाषा में शल्य-कर्मी कह सकते हैं। वह सिर पर चकमक पत्थर के नोकीले धार के किसी शस्त्र से प्रहार कर कुछ भाग के चमड़े और मांस-खंड को नष्ट कर उनको तहों के नीचे हड्डी के भाग पर चोट करता और उसी नोकीले चकमक पत्थर के शस्त्र से चोट कर सिर की हड्डी का एक गोल भाग काट कर बाहर करता। उस बेचारे रोगी पर इस शल्य-क्रिया के समय क्या बीतती रहती! सिर की हड्डी से चर्म और मांस-पिंड का भाग हटा कर अस्थि-खंड की चकत्ती भी काट चुकने तक वह जीवित भी रहता या नहीं, इसकी बहुत अधिक चिन्ता उस आदिम काल के शल्य-कर्मी को नहीं रहती। वह तो रोगी की रक्षा की अपेक्षा प्रेतात्मा को भगा कर समाज की रक्षा करने का अधिक उत्सुक रहता।

फलतः उस रोगी के जीवित या मृत रहने की बात छोड़ कर भी उसके सिर के भाग की काट निकाली हड्डी की चकत्ती दुष्ट प्रेतात्मा भगाने का मार्ग खोलने के कारण अत्यन्त शुभ समझी जाती और यह विश्वास किया जाता कि उस चकत्ती को जो व्यक्ति यन्त्र या तावीज रूप में धारण करे उसे पुनः वह दुष्ट प्रेतात्मा रूपी रोग त्रस्त नहीं कर सकता। अतएव हम उस सुदूर काल की इन घटनाओं तथा अंधविश्वासों के परिणामस्वरूप नवप्रस्तर युग के चकमक हथियारों के साथ मानव-कंकाल ऐसे छिद्रोंयुक्त पुरानी गुफाओं में प्राप्त करने के साथ ही साथ उन खोपड़ियों से काट निकाली चकत्ती को भी बड़े आदर के साथ तावीज रूप में प्रयुक्त करने के लिए उन्हीं अवशेषों के साथ पड़ा हुआ पाते हैं। परन्तु ये किसी दुर्घटना के ही परिणाम नहीं थे। बल्कि चिकित्सा के परिणाम थे। उस शल्य-कार्य से रोगी सदा मृत ही नहीं हो जाता था। बल्कि

जीवित भी रह जाता था। इसका प्रमाण प्रस्तुत करने के लिए हमें उन गुफाओं में ऐसी खोपड़ियाँ भी मिलती हैं जिनमें एक से अधिक छिद्र बनाये मिलते हैं या उनमें छिद्र शल्य कर्म के पश्चात् रोगी के जीवनकाल में ही कुछ भर आया भी दिखाई पड़ता है। इससे ज्ञात होता है कि रोगी पर एक बार से अधिक कपाल-भेदन का शल्यकर्म हुआ होगा अथवा पहले शल्यकर्म के पश्चात् वह अवश्य जीवित रह सका होगा जिससे सिर की हड्डी का छिद्र कुछ भर सका या पुनः उसके रुग्ण होने पर दुबारा कपाल-भेदन क्रिया का अवसर प्राप्त हो सका। उस युग के चित्रकारों ने अपनी गुफाओं में ऐसे शल्यकर्मों को दीवालों पर खचित भी किया है जिससे आज हमें उनकी इस शल्य-क्रिया या धार्मिक कृत्य का ज्ञान हो पाता है। ये घटनाएँ आज से कितने ही सहस्रों वर्ष पूर्व घटित हुई होंगी।

नवप्रस्तर युग का मनुष्य केवल कपाल-भेदन क्रिया का ही अभ्यास नहीं रखता था। प्रत्युत टूटी हुई हड्डियों के जोड़ने का भी उसे ज्ञान था। इसके प्रमाण के लिए हमें नवप्रस्तर युग के अवशेष में मनुष्य की ऐसी टूटी हड्डियाँ मिलती हैं जिन्हें ५५ प्रतिशत तक जुट जाने में सफल पाया जाता है। टूटी हुई हड्डियों को ३० प्रतिशत तक जुटा सकने में ही आज के सौ वर्षों पूर्व तक के आधुनिक शल्य विज्ञान को सफलता मिल सकी थी, अतएव अत्यन्त प्राचीन काल में ५५ प्रतिशत तक जोड़ मिल जाने की घटना नवप्रस्तर युग के शल्य-चिकित्सक के लिए अत्यन्त प्रशंसा की बात कही जा सकती है किन्तु आज यह बता सकना संभव नहीं है कि उस प्राचीन काल का शल्य-कर्मी कौन-सी विधियाँ प्रयुक्त करता था जिससे टूटी हड्डियाँ जोड़ी जाती थीं। हमें अप्रत्यक्ष रूप से संकेत देने के लिए आज की कुछ असभ्य जातियाँ हड्डियों के जोड़ने की कुछ पुरानी विधियाँ प्रदर्शित करती जान पड़ती हैं। अमेरिका के मूलवासी, रेड इंडियन टूटी

हड्डी के ऊपर छाल की खपाचियाँ बाँधते हैं। छाल से घाव बाँध दिया जाता है जो हड्डी जोड़ने में सफल होता पाया जा सकता है। आस्ट्रेलिया के मूलवासी एक दूसरी विधि का उपयोग करते हैं। वे रोगी की टूटी हड्डी के अंग पर गीली मिट्टी का लेप कर देते हैं। जब चिकनी गीली मिट्टी धूप में सूख जाती है तो वह घाव के ऊपर खपाची की तरह अवलंब डाल कर हड्डी जुटने में सहायता करती है। आज का शल्य-चिकित्सक भी कुछ ऐसी ही युक्तियाँ करता है, परन्तु गीली मिट्टी की जगह वह ऐसे वैज्ञानिक लेप को लगाता है जो प्लास्टर आफ पेरिस नाम से ज्ञात है। यह पानी डाले जाने पर आर्द्र होकर कुछ समय बाद फिर सूख कर कड़ी खोल रूप में बन जाता है और हड्डियों को स्थानान्तरित नहीं होने देता। हड्डी के टूटे भाग पर धातु की खपाची का बंधन भी भीतर रहता है। अतएव भीतरी तथा बाहरी अवलम्बों से हड्डी कुछ दिनों में सीधी जुट जाती है। नवप्रस्तर युग के शल्यकर्मी की विधि आज के रेड-इंडियन या मूल आस्ट्रेलिया वासियों की साधारण पद्धतियों के अनुरूप ही कोई पद्धति ऐसी रही होगी जो टूटी हड्डी जोड़कर रोगी को स्वास्थ्य लाभ करा सकती होगी।

नवप्रस्तर युग के शल्य-चिकित्सक द्वारा कपाल-भेदन का प्रमाण या चित्रांकन रूप में वर्णन हमें प्राप्त होता है, परन्तु हड्डी को छोड़कर केवल मांस-पेशियों में ही शल्य कर्म की कुशलता उसे प्राप्त थी या नहीं, यह बता सकना बड़ा कठिन है। मांस-पिंड का कोई भी अवशेष नहीं रह सकता। अतएव हमें उसके शल्य कर्म का भी प्रमाण नहीं मिल सकता परन्तु आधुनिक युग को अर्द्ध सभ्य कही जाने वाली कुछ प्राचीन जातियाँ अपने कतिपय चिकित्सा-विधानों से हमें पूर्वकाल की विधियों की कुछ झाँकी दे सकती हैं। सिर के भाग में रोग रूप की दुष्ट आत्मा को खोपड़ी तोड़कर दूर भगाने की भाँति

रक्त मांस के भाग में भी रोग के कारण को किसी अनिष्टकर प्रेतात्मा कहा जा सकता था। अतएव उसे पृथक् करने के लिए मांस पिंड काट फेकने या रक्त बहा देने की परिपाटी हो सकती थी। दक्षिण अमेरिका के मूल निवासी रेड-इंडियनों में हम विचित्र पद्धतियाँ प्रचलित पाते हैं। किसी घाव का मुँह बन्द करना होता है तो वे चींटे पकड़ लाकर उस पर लगा देते हैं तथा उसका शरीर मसल कर क्षुब्ध करते हैं। क्षोभ के कारण चींटा बड़े जोर से अपना मुँह गड़ा कर घाव के दोनों छोरों को सटा लेता है। फिर उसकी धड़ अलग कर देने से केवल मुँह एक ऐसी चिमटी का काम दे जाता है जो घाव के मुँह को जुटाए रख सके। हम कह नहीं सकते कि नवप्रस्तर युग का मनुष्य भी इसी तरह की कोई युक्ति करता था या नहीं।

मांस-पिंड के घावों की बात छोड़कर रूप की चर्चा करने पर यह ज्ञात होता है कि किसी न किसी विधि से शरीर की रक्त-वाहिनियों से रक्त निकालने का उपक्रम कर यह संतोष किया जाता था कि दूषित अंश या रोग रूप सा प्रेत बाहर कर दिया गया है। रक्त बहाने की विधि तो यूनानी चिकित्सा में हिपोक्रेटीज द्वारा भी वर्णित पायी जाती है। सुश्रुत ने भी भारतीय चिकित्सा में इसका वर्णन किया है। किन्तु रक्त बहाने के कारणों पर भिन्न-भिन्न कालों तथा देशों में भिन्न-भिन्न विचार रहे होंगे। अत्यन्त प्राचीन काल का पुरुष जहाँ दुष्ट प्रेतात्मा भगा देने की बात सोचता होगा, वहाँ कालान्तर में अन्य चिकित्सकों ने दूषित अंश बाहर निकाल फेकने की बात प्रदर्शित की होगी।

रक्त निकालने के अनेक साधन हो सकते थे। उनमें जोंक और सिंगी (शृङ्ग यंत्र) का वर्णन सुश्रुत संहिता में भी पाया जाता है। दक्षिण अमेरिका के रेड इंडियन लोगों में शल्य-चिकित्सक कुशल

धनुर्धर होता है। वह निकट की दूरी से रोगी की बाँह में रक्तवाहिनी पर तीर मारता है। यदि पहला निशाना ही लगकर रक्तवाहिनी से रक्त बहा देता है तो बड़ा शुभ माना जाता है और रोगी के शीघ्र स्वस्थ हो जाने की आशा की जाती है। यदि पहले निशाने में रक्त नहीं बहने लगता तो शल्य चिकित्सक फिर दूसरे तीसरे निशान का प्रयत्न करता है। परन्तु रोग मुक्ति की आशा उन प्रयत्नों की संख्या वृद्धि के ही अनुरूप बताई जाती है।

दक्षिण अमेरिका में ही आमेजन में कुछ मूलवासियों में रोग-ग्रस्त अंग-भंग करने की परिपाटी है। किन्तु पहले रक्त बहाकर देख लिया जाता है। जब रक्त बहाने पर भी रोग से छुट्टी मिलती नहीं दिखाई पड़ती तो प्रभावित अंग काट कर फेंके जाने का विधान होता है। प्राचीन इंका जाति में चकमक पत्थर का नोकीला खंड छाल द्वारा एक छड़ी में बाँध देने की परिपाटी थी। यह शस्त्र कुल्हाड़ी की तरह प्रयुक्त कर इंका शल्य चिकित्सक अंग काट फेंकता। मान लीजिये कि सिरदर्द हो रहा है तो पथरीले हथियार से ही वह भौंहों के मध्य चोट कर रक्त बहा देता। इस तरह सिरदर्द के मिटाने का विश्वास किया जाता; परंतु ऐसे यातनामय चिकित्सा विधान का अनुसरण करने के पूर्व ही रोगी कदाचित् वैद्य के द्वार तक आते ही अपने रोग को अच्छा हुआ समझ लेता।

रक्त बहाने की जोंक विधि को बहुत पुराना कहा जा सकता है। इसका प्रचार तो आज भी अनेक देशों के ग्रामीण क्षेत्रों में पाया जा सकता है। हमारे देश में भी इसकी सहायता से दूषित रक्त बहाने की चिकित्सा से रोग मुक्त होने का विश्वास करने वाले रोगी और चिकित्सक अभी तक पाये जा सकते हैं। आस्ट्रेलिया और अफ्रीका की अर्द्ध सभ्य जातियाँ तथा बलगेरिया, युगोस्लाविया

आदि के दूरस्थ ग्रामों में ऐसी पद्धति अब भी प्रचलित पाई जा सकती है। कभी किसी को जोंक ने पकड़ कर रक्त चूस लिया होगा, अतएव रक्त-विकार की कल्पना कर उसकी चिकित्सा रूप में जोंक से रक्त चुसवाने का प्रचार हो चला होगा।

रोगग्रस्त अंग को उष्ण पाषाण खंड या शलाका से दग्ध करना भी एक रोगहारी विधि समझी जाती रही है। अग्निशलाका का विवरण सुश्रुत ने भी दिया है। नवप्रस्तर युग का मानव कदाचित् दहकते पत्थर खंडों से ही दाग कर रोगी अंग को रोगमुक्त करता होगा। रेड इंडियन आज भी पेशियों के दर्द, कमर दर्द, आदि में उष्ण पत्थर से दागने का प्रयोग करते हैं। इस तरह की दग्ध क्रिया से फफोले पड़ जाते हैं और दर्द मिट जाता है। वास्तव में गर्मी पहुँचाने में लाभ प्रतीत होता है। परन्तु दग्ध क्रिया की पराकाष्ठा तिब्बत में इस प्रकार पहुँची है कि उसे सुनकर ही रोंगटे खड़े हो सकते हैं। तिब्बत का शल्य-चिकित्सक पत्थर के ढोंके को गर्मकर दागने के स्थान पर सलाइयाँ तपाकर दागने का कार्य करते हैं। पेशियों का दर्द मिटाने के लिए एक कड़ाही ली जाती है जिसमें अलकतरा या तेल उबलता रहता है। उसमें से दहकते द्रव पदार्थ को शल्य-चिकित्सक एक लकड़ी के चम्मच या उपकरण से निकालता है और रोगी की पीठ और पेट के विभिन्न स्थानों पर उबलता द्रव उंडेल देता है। इस तरह जब अगणित फफोले पड़ जाते हैं तब वह चिकित्सा और आगे बढ़ाने का दूसरा उपाय करता है। वह गंधक तथा शोरे के मिश्रण की एक बोरी लेकर रोगी के शरीर पर छोटी-छोटी ढेरियों में रखता है। एक जलता हुआ लुकाड़ा लेकर वह इन ढेरियों में बदन के ऊपर ही आग लगा देता है। इनके भभक उठने से रोगी एक दहकते पदार्थ का दृश्य उपस्थित करता है। रोगी का रोग कभी फिर याद आता है या नहीं, किन्तु इस

भारी यातना के पश्चात् वह चिकित्सक का पुनः दर्शन करने का साहस बहुत अधिक दिनों पर ही कर सकता होगा।

त्वचा पर नश्तर मारकर रक्त बहते रहने देने की विधि भी दुष्ट प्रेतात्मा को रुग्ण अंग से निकाल भगाने के लिए प्रयुक्त की जाने का प्राचीन समय में प्रचार रहा होगा। ऐसी प्रथा आज भी जहाँ-तहाँ पाई जाती है। इस यातना को बहुत से रोगी तो इसी कारण स्वीकार कर लेते होंगे कि कहीं अन्य लोग उसे कापुरुष न समझ लें या उसका उपहास न उड़ाया जाय अथवा अनिष्टकर प्रेतात्मा के भगाने का ही विश्वास उन्हें इस कष्ट का सामना करने का धैर्य प्रदान करता रहा होगा।

मिस्र का शल्य-विज्ञान

प्राचीन मिस्रवासियों ने आज से पाँच सहस्र वर्ष जितना अभ्युदय कर दिखाया था उसके कुछ प्रमाण हमें आज भी सुलभ हैं। अपने पूज्य पुरुषों के मृत होने पर उनके शव की बड़े कौशल से रक्षा करने की विधि उन्होंने ज्ञात की थी। जो बड़े स्तूप बनाकर उसमें समाधिस्थ कर दी जाती। समाधि के अन्दर उस समय के विश्वासों के अनुसार मृत आत्मा की सान्त्वना तथा शुभ कामना के लिए कुछ अन्य वस्तुएँ भी रख दी जाती थीं। इन रक्षित शवों को आज के शोधकर्त्ताओं ने ममी नाम से ज्ञात कर उनका आकार इतने दीर्घ काल से रक्षित देखकर बड़ा ही आश्चर्य प्रकट किया है परन्तु शव के सहस्रों वर्ष रक्षित रहने से मृत पुरुषों के वंशानुगामियों को कुछ सान्त्वना भले ही मिला करती रही हो। हमें उनके द्वारा जो प्रत्यक्ष लाभ प्राप्त होता है वह उनके सम्पर्क में छोड़ रक्खी हुई वस्तुओं, आभूषणों, उपकरणों तथा आलेखों आदि के दर्शन में तत्कालीन जगत के एक खंड की सभ्यता के कुछ रूप का

निदर्शन है। प्राचीन मिस्रवासी एक वनस्पति से एक सुदृढ़ आलेख पत्र सुरक्षित रूप में रख सकने के लिए निर्माण करने के लिए प्रसिद्ध हैं। उसे पेपिरस नाम दिया जाता है। उन पर लिखे हुए आलेख आधुनिक काल के अन्वेषकों के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं जिन्होंने प्राचीन समाधियों की खुदाई कर उन पेपिरस या आलेखो-पत्रों को कहीं रक्षित शव के साथ ही पड़ा पाया। इन आलेख-पत्रों में हमें चिकित्सा विज्ञान की झाँकी भी मिलती हैं। आज से पाँच हजार वर्षों पुरानी एक समाधि से एक आलेख-पत्र या पेपिरस एक-एडविन स्मिथ नाम के शोधक ने प्राप्त किया था जिसे संसार का सर्वप्रथम शल्य-विज्ञान सम्बन्धी लिखित ग्रंथ कहा जा सकता है। इस शल्य-विज्ञान सम्बन्धी ग्रंथ को एडविन स्मिथ ने संसार के सम्मुख उपस्थित किया। इस पुस्तक को पूरी पुस्तक का प्रथम भाग ही कहा जा सकता है जो सुलभ हो सका है, इसमें सिर तथा रीढ़ (पृष्ठ वंश) के आघातों का वर्णन दिया है। लगभग पचास उदाहरण इन चोटों के निदान के सम्बन्ध में विशद विवरणयुक्त दिये हैं।

एडविन स्मिथ द्वारा उद्धार की हुई इस पांडुलिपि में वर्णन किया है कि सिर और रीढ़ की चोटों का निर्णय कैसे किया जाय, सिर टूटने से यदि हड्डी में झुकाव हो गया हो तो उसे अँगुलियों द्वारा किस प्रकार निरीक्षण किया जाय। यदि मस्तिष्क पर टूटी हड्डी का दबाव पड़ रहा हो तो उस हड्डी को उठाने तथा शल्य क्रिया करने की विधि भी स्पष्ट बताई गई है। आजकल स्कंधास्थि टूटने पर उसकी चिकित्सा के लिए कभी-कभी रोगी की पीठ के नीचे बालू की बोरी रख कर अधिक समय तक शयन कराया जाता है। ऐसी ही विधि एडविन स्मिथ द्वारा अन्वेषित प्राचीन पांडुलिपि में लिखित मिलती है जिसे किसी कुशल मिस्रवासी शल्यकर्मी ने पाँच सहस्र वर्ष पूर्व लिखा था।

भारतीय शल्य विज्ञान की खोज में हमें सर्वप्रथम शल्य-चिकित्सक रूप में काशी के राजा दिवोदास का नाम मिलता है जो धन्वन्तरि नाम से ख्यात है। राजा को ऐसे कल्याण-कर्म या विज्ञान-साधना का किन स्थितियों में अवसर मिलता होगा, इसे बता सकना आज कठिन ही है परन्तु हमें मिस्र देश के प्राचीन शल्य-विज्ञान के संबंध में भी कुछ ऐसा संकेत मिलता है कि आज से पाँच सहस्र वर्षों पूर्व (ईसा से तीन हजार वर्ष पूर्व) मिस्र में इम्होटेप नाम का कोई राजा हुआ था जिसने अपने राजकीय ऐश्वर्य के वातावरण में रहकर ही शल्य-विज्ञान का ग्रंथ प्रणयन किया था। हमें एडविन स्मिथ द्वारा अन्वेषित शल्य-विज्ञान की पाण्डुलिपि के रचयिता के सम्बन्ध में मिस्र के राजा का नाम लिये जाने की बात सुनने पर काशिराज दिवोदास की भी ऐसी ही कीर्ति स्वतः स्मरण हो आती है। क्या यह संभव है कि भारत तथा मिस्र दोनों ही देशों में सभ्यता की उषा प्रस्फुटित हो रही हो और उनमें परस्पर आवागमन हो सकने का भी अवसर प्राप्त हुआ हो। अतएव किसी एक जाति में कोई राजा या समाज का अग्रणी व्यक्ति ही प्रधान शल्यचिकित्सक बना हो। उसी का संचित ज्ञान दूसरे देश में भी पहुँच कर राजा की कृति रूप में प्रसिद्ध हुआ हो, परन्तु खेद है कि हमें मूल भारतीय ग्रंथ आज तुलनात्मक अध्ययन के लिए सुलभ नहीं है।

विज्ञान की प्रगति का अन्वेषक ऐसी परिस्थितियों में किसी एक पक्ष या राष्ट्र को ही अपने तर्कों, धारणाओं को व्यक्त कर गौरव प्रदान करने का प्रयत्न नहीं कर सकता परन्तु यह बात स्वभावतया मन में उठती है कि कुछ ज्ञान की अधिक साधना ही होने से मिस्र देश को शल्य-विज्ञान का प्रथम ग्रंथ आज संसार के सम्मुख प्रस्तुत करने का अवसर प्राप्त होता है अथवा उस यश-प्राप्ति में उसके प्राचीन शव-रक्षण धर्म का विशेष भाग है। भारत में शव को दग्ध

करने या जल में प्रवाहित करने की प्रथा है। प्राचीन समय में भी यही प्रथा होने पर शव-रक्षा का प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु अपने धार्मिक विश्वासों से शव को समाधिस्थ करने के अतिरिक्त उसे अपने वैज्ञानिक कौशल से प्राचीन मिस्रवासियों ने सुरक्षित रखने की भी विधि ज्ञात कर ली जो संसार के अन्य सभी देशों से एक अनोखी विधि तथा कुशलता थी। हो सकता है कि इस चतुराई में उनके देश का शुष्क वातावरण भी अधिक सहायता पहुँचाता हो परन्तु स्थितियाँ कुछ भी हों, आज ठोस सत्य यह है कि मिस्र अपनी प्राचीन स्मृति रूप में शल्य-विज्ञान का सर्वप्रथम लिखित ग्रंथ सुरक्षित रख कर संसार को प्रस्तुत करने में समर्थ हो सका है। इस ग्रंथ में हमें अनेक बातें पढ़ने को मिलती हैं।

मिस्र देशीय प्रथम शल्य-चिकित्सक को मस्तिष्क का विशेष ज्ञान प्रतीत होता है। वह इसे क्रिया-शीलता का केन्द्र समझता है। यह भी ज्ञान व्यक्त होता है कि मस्तिष्क का प्रभाव अंगों पर पड़ता था। पृष्ठ-वंश की क्रिया भी ज्ञात जान पड़ती है। पृष्ठ-वंश को आघात पहुँचने पर अंत्रों में पक्षाघात होने का भी वर्णन प्राप्त होता है।

शल्य-विज्ञान के ग्रंथ के साथ ही हमें शल्य कर्म के प्रत्यक्ष प्रमाणों का अभाव नहीं मिलता। शव के साथ ही जम्बूरे (संदंश यंत्र), सुइयाँ (सूची) तथा अंकुशनुमा (वडिश) यंत्र तथा नश्तर (वृद्धिपत्र) प्राप्त हो सके हैं जो काँसा निर्मित हैं। अतएव यह सिद्ध होता है कि मिस्र में उस काल में शल्य कर्म के लिए काँसे के दृढ़ यन्त्र तथा शस्त्र निर्मित हुआ करते थे।

मिस्री समाधियों में रक्षित शवों को देख कर ज्ञात होता है कि शव को रक्षित रूप देने वाले कुशल कर्मकार आंतरिक अंगों को पृथक कर देते थे और बाह्य आकृति ही रक्षित करने का प्रयत्न करते

थे। यह किसी विश्वास या सुविधा के कारण कदाचित् होता हो। परन्तु वे पृथक् निकाले अङ्ग भी पृथक रूप में समाधि में ही रक्षित रखे जाते थे। अङ्गों को निकालने के लिए अनेक प्रकार के अंकुश-नुमा (वडिश) शस्त्रों का उपयोग होता था। मस्तिष्क को कपाल से पूर्णतया पृथक कर लिया जाता तथापि शव के मुख को तनिक भी क्षति नहीं पहुँचती। इन कुशल कर्मकारों को शरीर-विज्ञान का भी अच्छा ज्ञान रहा होगा। शव के आंतरिक अङ्गों को बड़े-बड़े घटों में सुरक्षित रखने के अतिरिक्त ये रुग्ण अङ्गों का प्रतिरूप भी काँसे तथा मृत्तिका से निर्मित कर रखते। स्वर्ण तथा रजत-निर्मित अङ्ग भी इन समाधियों में शुभकारी वस्तु रूप में रक्षित मिलते हैं।

रक्षित शवों को पवित्र मानने के कारण उनको चीर-फाड़ कर ज्ञान प्राप्त करने का अवसर शल्यकर्मी को नहीं मिल सकता था, परन्तु वे शव को रक्षित रूप देने वाले कर्मकारों के कृत्य का दर्शन करने का अवसर पाते थे। शल्यकर्मी ही पुरोहित भी हो सकता था। अतएव उसे ऐसे दृश्यों से ज्ञान प्राप्त करने का अवसर हो सकता था।

मिस्र की समाधियों में अन्य पाण्डुलिपियों और शिलालेख भी शल्य-कर्म अथवा चिकित्सा-विज्ञान के सम्बन्ध में प्राप्त होते हैं। उनमें कुछ को प्राचीन ग्रंथों से संग्रहीत उल्लिखित किया गया है। उनमें औषधियों की विविध बातें हैं। स्त्रियों के रोग, सौन्दर्य-वर्धन आदि विषयों का भी वर्णन तथा अनेक प्रकार के नुस्खों का उल्लेख पाया जाता है। व्रण की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं तथा उनके उपचार तथा शल्यकर्म के समय और प्रकार का भी उल्लेख मिलता है। इन सब विद्याओं को एक नियमबद्ध रूप में कर नई पीढ़ी के चिकित्सकों या शल्यकर्मियों का उनका अनुगमन करने का आदेश

दिया जाता। नवीन चिकित्सकों को अपना पृथक् मार्ग न बना कर उन परम्पराओं तथा आदेशों का ही पालन करना पड़ता।

नवयुवक या नवीन चिकित्सकों को प्राचीन आचार्यों के आदेशों का अनुगमन करने पर रोगी के ऊपर कोई दुष्परिणाम होने पर भी कोई दोषारोपण का भय नहीं रहता परन्तु धीरे-धीरे विज्ञान का उत्कर्ष होने के स्थान पर अपकर्ष ही होता गया। कालान्तर में तो इतना ज्ञान-ह्रास हुआ कि यथार्थ विज्ञान का स्थान पहले अंध-विश्वासों तथा विज्ञान के संयुक्त रूप ने लिया, परन्तु अधिक समय बीतने पर केवल अंधविश्वास का ही बोलबाला हो गया। फलतः यथार्थ ज्ञान-साधकों अथवा चिकित्सकों को प्रकृति के मार्ग में बाधा डालने पर एक अपराधी बनने का ही अवसर पाने का युग हम कालान्तर में उपस्थित होता पाते हैं। ऐसी स्थिति में शल्य कर्म अथवा शोध-कार्य कैसे हो सकता है?-यदि हम पहले के मिस्री ग्रंथों की तुलना बाद में लिखे गये उन ग्रंथों से करें जो समाधियों में प्राप्त हो सके हैं तो हमें ज्ञान के ह्रासोन्मुख होने का स्पष्ट ज्ञान होता है। कहीं-कहीं कुछ उन्नति होने के एकाकी अवसर भी अपवाद रूप में मिलते हैं। उदाहरणार्थ निषेधाज्ञा होने पर भी दाँत तथा आँख के शल्य-कर्म का प्रचार हो सका। मूत्राशय से पथरी निकालने के लिए शल्य-कर्म भी प्रचारित होने की बात पाई जाती है परन्तु यह ज्ञान एक वंशपरम्परा रूप में उन लोगों में ही प्रचारित रह सका जो शल्य-चिकित्सक नहीं होते थे। परन्तु पथरी निकालने की कुशलता एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी अपने परिवार के सदस्यों को ही सिखाते रहते।

शल्य-कर्म में सहायता के लिए लेपों, घोलों आदि की भी व्यवस्था हो सकी थी, परन्तु ज्ञान का पतन होने पर जो अवस्था आ पहुँची उसमें हम एक लेप का नुस्खा निम्न प्रकार पढ़ कर स्थिति

में परिवर्तन का अनुमान भलीभाँति कर सकते हैं। नुस्खे में बताया गया था :—

"केचुए का रक्त पका कर उसमें तेल मिला दें। फिर एक छछूँदर मार कर पकावें तथा तेल में डुबो दें। फिर गधे की लेंड़ी दूध में घोल लें। इन सब के मिश्रित लेप को मंत्र पढ़ कर प्रयुक्त करें।"

एक बार उन्नति का गौरव प्राप्त कर पुनः कालांतर में ह्रासोन्मुख होने की कथा मिस्र देश में ही सीमित नहीं है। अन्यान्य देशों और कालों में हम इसी प्रकार का चक्र चलता देख सकते हैं। मालूम नहीं वे क्या कारण तथा विशेष अवसर हैं जब एक समय में एक भूखंड का मानव-समुदाय विशेष उत्कर्ष का यश प्राप्त कर लेता है। परन्तु कुछ समयों के पश्चात् उसी उन्नति-प्रवाह को अग्रसर करते रहने को कौन कहे, स्थिर रखने में भी उस जाति के वंशज या पश्चातगामी जन सफल नहीं हो पाते। फलतः अन्धविश्वासों का विकट राज्य तथा ज्ञान-विज्ञान का अवसान-काल स्थापित दिखाई पड़ता है। हमारे देश में भी ऐसे ही चक्र का निदर्शन किया जा सकता है जहाँ चिकित्सा-विज्ञान क्षेत्र में हम अपने प्राप्य ग्रंथों में अन्यान्य विभागों के स्थान में मंत्र का प्रवेश भी पाते हैं। मंत्र का अर्थ यहाँ कल या कोई उपकरण न हो कर कुछ रेखाङ्कित संख्या-चक्र, मंत्रलेखन या ताबीज ही है। ऐसी ही दशा अन्य देशों में भी कभी बड़े तीव्र वेग से अधिक दिनों तक प्रसारित रही। औषधियों में भी चिकित्सा के स्थान पर हम विलासिता की वृद्धि करने में सहायक बाजीकरण औषधियों की विशेष चर्चा पाते हैं। ज्ञान का लोप होने और शोध-धारा का वेग अवरुद्ध होने पर उसे प्रश्रयदाता ही पाये जाते होंगे जो लोक-कल्याण की जगह अपनी इंद्रियलिप्सा के लिए चिकित्सा-विज्ञान के बचे-खुचे आराधकों से औषधियों की माँग करते होंगे। फलतः मिस्र में भी

ज्ञान के पतन काल में हम यथार्थ चिकित्सा-विज्ञान साधकों के स्थान पर विलासप्रिय रमणियों के उपभोग तथा आमोद के लिए विविध शृङ्गार-द्रव्यों, सुगंधियों आदि का निर्माण करने वाले व्यक्तियों को ही ऐसे कार्यों में संलग्न पाते हैं। इन्हीं द्वारा बाजीकरण औषधियाँ भी पुरुष वर्ग के लिए निर्मित होती थीं। मनुष्य को पशु वर्ग तक पहुँचने के लिए घोड़े (वाजि) के सदृश भोग-लिप्सा उत्पन्न करने वाली औषधियाँ प्रचारित करने वाले कुछ विशेष व्यक्तियों को ही दोष देने के स्थान पर तो हम उस काल के समाज की हीन स्थिति होने को ही ऐसे ज्ञानापकर्ष का कारण मानना अधिक उचित समझेंगे। इस प्रकार जहाँ विज्ञान-शोधकों ने कभी लोक-कल्याण की भावना से अपने बुद्धिबल से कोई चिकित्सा-पद्धति प्रचारित की उसी ज्ञान को समय ने इतने नीचे स्तर पर पहुँचा कर मानव की ओछी वृत्ति का परिचय दिया।

संसार में अनेक भूखंडों के मानवसमुदाय में हम आज खतना या जननेंद्रिय के अग्रभाग का शिथिल चर्म कटवा देने की परंपरा प्रचलित पाते हैं। यह पद्धति कदाचित् पहले-पहल मिस्र देश में ही प्रचलित हुई जिसका प्रारंभ मुसलमानी धर्म के उदय के कई सहस्र वर्षों पूर्व, आज से छः सहस्र वर्ष पहले ही (४००० ईसा पूर्व) हो चुका होगा। नील नदी की घाटी में यह परिपाटी विशेष जातीय चिह्न या स्वच्छता के कारण ही प्रचलित हुई होगी परन्तु उसने अब एक धार्मिक कृत्य का रूप ही धारण कर लिया है जिसे मुसलमानी कराना कहते हैं। कहा जाता है कि सबसे पहले किसी मिस्री राजा या सरदार ने अपने पुत्र का खतना इस दृष्टि से कराया कि उसका पुत्र अन्य पुरुष बच्चों से विभिन्न ज्ञात हो। किसी अन्य मिस्री राजा ने इस पद्धति को एक जातीय पद्धति ही बना दिया। इसे शल्यकर्म करने वाला पुरोहित ही सम्पादित करता था। इस

संस्कार या कृत्य का चित्र आज भी सुरक्षित है। एक सुप्रसिद्ध प्राचीन मंदिर में पत्थर पर अंकित एक चित्र शल्यकर्मी पुरोहित को राजकीय शिशु के सम्मुख झुक कर खतना करने का दृश्य उपस्थित करता है। उस शिला-चित्र में राजकीय शिशु सीधे खड़ा है और उसे पीछे से कोई धाय पकड़े हुए घुटने के बल बैठी है। शल्यकर्मी के बाएँ हाथ द्वारा काटे जाने वाले चर्म का भाग है और दाहिने हाथ में चकमक का एक नोकीला शस्त्र लेकर वह चमड़ा काटने का उपक्रम कर रहा है। चारों ओर दर्शक घेरे खड़े हैं, परन्तु सभी की मुखमुद्रा एक आदर की भावना प्रदर्शित करती है जिससे हमें यह ज्ञात होता है कि यह शिशु अवश्य ही राजकीय होगा। इस तरह खतना की पद्धति पहले राजवंश में प्रारंभ हुई और कालान्तर में राजवंश संभ्रान्त पुरुषों तथा योद्धाओं के पुत्रों को एक विशिष्ट वर्ग का व्यक्त करने वाली विधि प्रचारित हुई किन्तु ज्ञात होता है कि बाद में यह पद्धति मिस्र देश के सम्पूर्ण पुरुष जाति के लिए अनिवार्य कर दी गई। यही नहीं, विदेश से आगंतुक प्रमुख पुरुषों को भी राजा के सम्मुख जा सकने के पूर्व अपना खतना करा लेना पड़ता था।

आज यह कह सकना तो बड़ा ही कठिन है कि मिस्र की सभ्यता के भी पूर्व नव प्रस्तर युग या प्रागैतिहासिक काल के व्यक्तियों में भी खतने का प्रचार प्रारंभ हुआ था या नहीं। मांस-खंड का रक्षित रूप या मनुष्य का कोई प्रस्तरावशेष यह पद्धति प्रकट कर सकने वाला सुलभ नहीं हो सका है। अतएव प्राचीनतम उदाहरण प्रस्तर-चित्र रूप में मिस्र में ही प्राप्त होने से हम खतना पद्धति का सर्वप्रथम प्रचारक या उद्घाटक कह सकते हैं। जिन अन्य जातियों ने कालान्तर में मिस्र की सभ्यता का अनुगमन किया उनमें भी हम इस खतना पद्धति के प्रचार का प्रमाण पाते हैं।

भूमध्य सागर तथा एशिया के मिस्र-अनुगामी देशों में हम फिलस्तीन के यहूदियों, प्राचीन असीरिया वासियों तथा चीनवासियों का नाम ले सकते हैं जहाँ खतना कराने का प्रचार हुआ और उसका कारण स्वच्छता बताया गया; परन्तु मुहम्मद साहब ने पुरुषों के लिए खतना कराना अनिवार्य तथा स्त्रियों के लिए ऐच्छिक घोषित किया। अतएव मुसलमान देशों में खतने के प्रचार का कारण धार्मिक परंपरा ही है। हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि मुहम्मद साहब ने इस पूर्वप्रचलित पद्धति को केवल स्वीकार किया। वे इसके प्रथम उद्‌घाटक नहीं थे। खतने रूप में जननेन्द्रिय के अग्रभाग के शिथिल चर्म का शल्य-कर्म बहुत पहले से ही प्रचारित था। खतना से हमें पुरुष-जननेन्द्रिय के शल्य कर्म का ही अनुमान होता है। परन्तु हम अफ्रीका में आज भी स्त्रियों की जननेन्द्रिय के बाह्य अंग का खतना होते पा सकते हैं।

स्त्रियों के जननेन्द्रिय का खतना करने की पद्धति अन्यत्र भी प्रचारित थी। मुहम्मद साहब ने इसकी अनुमति देकर मुसलमान स्त्रियों के लिए खतना का विधान प्रचारित किया किन्तु स्त्रियों का खतना स्त्री-शल्यकर्मी ही कर सकती थी। इसके विपरीत अन्य देशों में ऐसा कुछ प्रतिबंध नहीं रक्खा गया। इसलाम धर्म के अनुयायियों को छोड़ कर भी हम स्त्रियों के जननेन्द्रिय के खतना का प्रचार मिस्र, प्राचीन एशिया तथा रेडइंडियन में प्राचीन काल में पाते हैं।

स्त्रियों में खतना की परिपाटी का कारण कह सकना कठिन ज्ञात होता है। कदाचित् इसका उद्देश्य कौमार्य (कुँआरापन) या अविवाहित बालिका के सतीत्व की रक्षा हो। अविवाहित या कुमारियों के जननेन्द्रिय का खतना कर ऊपर एक धातु की अंगूठी या ताला पहना दिया जाता। पालीनीशिया की मूल जातियों में आज भी कुमारी बालिकाओं के खतना-कृत्यों को दो

संस्कारों में विभक्त देखा जा सकता है। पहले संस्कार में जब बालिका १० या १२ वर्ष की आयु होने पर आती है तो बड़ी धूम-धाम से एक आयु की बालिकाएँ एकत्र की जाती हैं और खतना संस्कार सामूहिक रूप में संपादित होता है। इसके बाद बालिका विवाह योग्य आयु की मानी जाने लगती है। जब वह भावी पति के हाथों सौंप दी जाती है तो दूसरा संस्कार संपादित होता है। कोहबर की रात्रि वर उस अंगूठी या ताला को पृथक् करता है। इसी प्रकार की कुछ प्राचीन विधि का विकास मध्य युग में सतीत्व-रक्षक पेटी के रूप में हो सका होगा।

एक दूसरी विचित्र प्रथा पुरुष को बधिया करने या नपुंसक बनाने की है। शिखंडी का नाम तो हमें भारतीय साहित्य में भी मिलता है, परन्तु शल्यकर्म द्वारा नपुंसक बनाने का यह उदाहरण था या केवल नाम का ही भ्रम था, इसे हम नहीं कह सकते। परंतु विदेशों में तो पुरुष को शल्यकर्म से हिंजड़ा बनाने की एक परम्परा ही बन गई थी। मिस्र में हम ऐसी पद्धति उस पुरुष को दंड देने के रूप में पाते हैं जो किसी स्वतन्त्र नागरिक रमणी का सतीत्व भंग करने का अपराधी होता था। अन्य देशों में भी हम ऐसे विधान पाते हैं जिसमें किसी सम्भ्रान्त महिला के दोषारोपण मात्र कर देने पर पुरुष की जननेंद्रिय काटकर उसे नपुंसक बना दिया जाता था। किंतु पश्चिमी एशिया के देशों में तो ऐसे नपुंसकों का व्यवसाय-सा फैल गया जो राजा या सरदारों के महल में बहुसंख्यक पत्नियों की निरापद रूप से सेवा तथा रक्षण कर सकें। चीन में भी हम युद्ध में बन्दी हुए व्यक्तियों को नपुंसक बना कर रानियों के लिए सेवक नियुक्त किये जाने की प्रथा प्राचीन काल में पाते हैं। रोम में भी ऐसे नपुंसकों की प्रथा थी जो दूर देशों में रणभूमि में ही प्रायः रहने वाले योद्धाओं की पत्नियों के सेवक बन कर रहते।

बेबिलोनिया का शल्य-विज्ञान

आज से चार सहस्र वर्षों पूर्व मेसोपोटामिया नाम के प्रदेश का नाम बेबिलोनिया था जहाँ फुरात तथा दजला नदियों की घाटी में एक सुसभ्य जाति निवास करती थी। उस युग के बेबिलोनिया वासियों का शल्य-विज्ञान प्रदर्शित करने के लिए हमें कोई प्रत्यक्ष प्रमाण आज सुलभ नहीं है, परन्तु कुछ संकेत मिलने में दंतकथाओं तथा प्राचीन ग्रंथों से कुछ सहायता अप्रत्यक्ष रूप में मिल सकती है। एक कथा निम्न प्रकार प्रसिद्ध है :—दजला नदी (टाइग्रिस) के दायें तट पर स्थित एक प्रासाद की शीतल छाया युक्त मनोहर वाटिका में एक वृद्ध पुरुष म्लान मुख बैठा विचारमग्न पड़ा था। वह बहुत ही वृद्ध था। दाढ़ी के लंबे श्वेत बाल वक्षस्थल तक लटक आए थे। नंगे पैर नदी के जल में पड़े थे। वह सर्वथा आत्म-विभोर सा हो उठा था। बाह्य जगत की स्मृति उसे चंचल नहीं कर रही थी। पक्षियों का कलरव, सूर्य की प्रभा अथवा पुष्पों की मनमोहक सुरभि भी उसे आकृष्ट नहीं कर सकती थी। क्लान्त एवं कातर नेत्रों से दो अश्रुधाराएँ प्रवहमान थीं। उस दिन एक घड़ी पूर्व ही हमुराबी नाम के एक वृद्ध, विचक्षण पुरुष का एकमात्र पुत्र मृत हो चुका था। वह पुरुष यही था। हमुराबी के पुत्र का आमाशय प्रेतात्मा का निवास बन गया था, फलतः उसका उदर अतिशय मात्रा में वृद्धि पा गया था। राज-चिकित्सक 'आसु' को चिकित्सा के लिए बुलाया गया था। आसु ने घोषित किया था कि रोगी के उदर में दुष्ट प्रेतात्मा ने प्रवेश कर लिया है। उसे निकाल बाहर करना ही रोगमुक्त होने का मार्ग है। फलतः जलोदर रोग को दुष्ट प्रेतात्मा का कृत्य समझकर बेबिलोनिया के सबसे कीर्तिमान् चिकित्सक ने काँसे का नश्तर (वृद्धिपत्र) लेकर दजला नदी के जल से प्रक्षालित किया एवं रोगी के उदर में प्रविष्ट कर दिया। दुष्ट

प्रेतात्मा पर प्रहार का इससे अधिक क्रियात्मक मार्ग दूसरा हो भी क्या सकता था। फूले हुए उदर में नश्तरों का भेदन देखकर रोगी शिशु कातर दृष्टि से अपने पिता की ओर देखते हुए शैयाग्रस्त पड़ा था। असहाय पिता रुग्ण पुत्र के सिरहाने बैठकर उसके कंपित हाथों को पकड़े था। पुत्र के कातर नेत्र, दया तथा सहायता की भीख माँग रहे थे, किन्तु पिता स्वयं ही असहाय हो रहा था। चिकित्सक के छूरे के रोगी के उदर से बाहर निकलते ही गाढ़े, दुर्गंधियुक्त रक्त की धारा फूट पड़ी। शय्या रक्ताभिसिंचित हो गई। रोगी ने एक गंभीर आर्त्त पुकार की तथा निश्शब्द हो गया। उसका सिर पिता के हाथ में लुढ़क पड़ा। सूक्ष्म आत्मा अनन्ताकाश में लुप्त हो गई। जीवन-क्रिया समाप्त कर रोग ने अपना शमन किया।

हमुराबी का इकलौता पुत्र मृत हो चुका था परन्तु उसकी प्राण रक्षा का प्रयत्न राजवैद्य ने किया था जो उस देश के चिकित्सा-विज्ञान का सर्वाधिक ज्ञाता कहा जाता था। अतएव उसके प्रयत्न की त्रुटि बताने वाला कोई अधिकारी नहीं था। राजवैद्य ने अपनी असफलता का कारण सीधे सादे शब्दों में बताया कि उदर-शोथ उत्पन्न करने वाली दुष्ट प्रेतात्मा अधिक प्रबल और अनिष्टकारी थी, अतएव उसको शमन करने में निष्फल होना पड़ा। पुत्रशोक-विह्वल पिता को अपने पुत्र की मृत्यु देखने की कारुणिक स्थिति में भी राजवैद्य बुलाने का पूर्ण शुल्क देकर ही विदा करना पड़ा। किन्तु उसे इस स्थिति से सन्तोष नहीं हुआ। बेबिलोनिया के राजा को भी अपने राज्य के प्रमुख विचक्षण व्यक्ति तथा प्रतिष्ठित राज दरबारी के इस पुत्र-शोक से महान् क्लेश हुआ। उसने हमुराबी को आमंत्रित कर आजीवन अपने राजभवन में रहने की अनुमति दी। हमुराबी ने स्वयं असह्य पुत्रशोक उठाकर अन्य पिताओं को ऐसे शोकों से रक्षित रखने के विधान पर विचार किया। फलतः चिकि-

त्सकों के लिए एक व्यवहार शास्त्रप्रणीत हुआ जो राज्य में प्रचलित हुआ। 'वह हमुराबी के व्यवहार शास्त्र के नाम से ज्ञात है।

हमुराबी के निर्देशित चिकित्सा व्यवहारशास्त्र में उचित चिकित्सा मर्यादा स्थापित रखने का विधान किया गया। अमुक स्थिति के रोगी के लिए चिकित्सा की व्यवस्था में सफल होने पर चिकित्सक को कितना शुल्क मिलना चाहिए अथवा रोगी की मृत्यु हो जाने पर उसका दंड कितना होना चाहिये। इसी तरह की बातें उस व्यवहार शास्त्र में उल्लिखित हुईं। स्वतन्त्र नागरिक के रोगमुक्त होने का शुल्क या मृत्यु पर दंड का कुछ दूसरा विधान था तथा दासों के सम्बन्ध में कुछ अन्य विधान था। यदि एक दास की शल्य-क्रिया द्वारा मृत्यु हो जाय तो चिकित्सक को अपने व्यय से एक दूसरा दास स्वामी को देना पड़ता था।

बेबिलोनिया के अवसान के पश्चात् उसके स्थान पर ईरान ने अपनी सभ्यता प्रसारित की परन्तु शल्य-विज्ञान तथा अन्य कई बातों में यह फिसड्डी ही रहा। यन्त्र-मंत्र में ही लोगों का विश्वास था। रोग और स्वास्थ्य के ही दुष्ट और कल्याणकारी दो प्रकार की प्रेतात्माएँ ही उत्तरदायी समझी जाती थीं। परन्तु ईरान के वैभव-सम्पन्न नागरिक जनसाधारण को यंत्र-मंत्र के अंधविश्वास पर ही चिकित्सक के लिए निर्भर छोड़कर स्वयं रोगग्रस्त होने पर तत्कालीन मिस्र या यूनान देशों से विदेशी चिकित्सकों की बुलाहट कर सहायता प्राप्त करते।

यहूदियों का शल्य-विज्ञान

यहूदी लोग आज के फिलस्तीन पर बहुत दिनों के बाद अनेक भाग्य-चक्रों के परिवर्तन के पश्चात् अधिकार जमा कर अपना निवास-स्थान बना सके हैं; किन्तु पूर्व काल में वे स्वतः इस देश के

निवासी तथा स्वाभाविक स्वामी थे। विज्ञान की सफलता में वे कदाचित् आगे न बढ़ सके थे। शल्य-विज्ञान या चिकित्सा के नाम पर तो केवल देवी-देवताओं, मंत्रों आदि पर ही विश्वास रखते थे। जब कुछ विज्ञान-वृद्धि होने से चिकित्सक उत्पन्न भी होने लगे तो अंधविश्वासी पुरोहित उन्हें चिकित्सा कार्य में अग्रसर होने में भारी बाधाएँ पहुँचाते। पुरोहितों के ऊपर जन-साधारण की आस्था थी। अतएव वे अपना आदरपूर्ण स्थान समाज में बनाये हो रखने का प्रयत्न कर साधारण जनता को धर्म मंदिरों में ही मंत्र-तंत्र के बल पर चिकित्सा कार्य के लिए आने का आदेश देते।

जब यहूदियों को बेबिलोन में बन्दी होने का अवसर हुआ तो कुछ शल्य-विज्ञान का विशेषतया पुराहितों द्वारा ही प्रचार प्रारम्भ हुआ। इसके पूर्व सबसे प्राचीन शल्य-कर्म हम खतना करने और कान फाड़ने रूप में पाते हैं। कान फाड़ना या छेद करना एक विशेष वर्ग की पहचान के लिए कार्यान्वित होता। दासता का निर्दिष्ट काल पूर्ण कर चुकने पर भी जब दास पुनः स्वतन्त्र होना अस्वीकार कर देता तो उसके द्योतन के लिए कान में छेद कर दिये जाते। इसके लिए दास किवाड़ के चौखटे में बाँध दिया जाता और एक शस्त्र (आरा) से कान के लटकन में छिद्र बना दिया जाता। खतना जातीय चिह्न रूप में था। अब्राहम नामक धार्मिक नेता को तो ६० वर्ष की आयु में खतना कराने का उल्लेख मिलता है। जब तक खतना न कर लिया जाय, तब तक समाज से बहिष्कृत व्यक्ति ही समझा जाता था।

बेबिलोनिया के प्रभाव से यहूदियों में शल्य कर्म की उन्नति हुई। शल्य चिकित्सक उत्पन्न हुए, शल्य कर्मी धायें हुईं। व्रणों की चिकित्सा होती जिसमें शल्य कर्म का भी विधान होता। भ्रष्ट अंग काट फेंकने के लिए मूर्छा-उत्पादक औषधि प्रयुक्त होती। लकड़ी के

कृत्रिम पैर, स्वर्ण या दृढ़ काष्ठ निर्मित कृत्रिम दाँत लगाये जाते। गर्भाशय के रक्त-स्राव की परीक्षा के यंत्र प्रयुक्त होते। कपाल-भेदन कर्म भी अज्ञात न रहा। खपाचियों द्वारा टूटी हड्डी जोड़ी जाती। मोच ठीक की जाती।

चीन का शल्य विज्ञान

चीन देशवासी ज्ञान-विज्ञान की अत्यन्त प्राचीनकाल में उन्नति करने के लिए यशस्वी हैं। अनेक विद्याओं का उन्होंने अति पूर्वकाल में स्वयं अपने बल पर उत्थान किया। अतएव यह स्वभावतः प्रश्न उठता है कि चिकित्सा या शल्य-विज्ञान में उन्हें कहाँ तक सफलता प्राप्त हो सकी थी। विश्वास किया जाता है कि चीन के चिकित्सा तथा शल्य-विज्ञान का जन्म आज से पाँच सहस्र वर्षों पूर्व हो चुका होगा। चीन की चिकित्सा-विद्या का जन्मदाता होने का श्रेय शेन नुंग नाम के सम्राट् को दिया जाता है। उसे चीन देश का धन्वंतरि कहा जा सकता है। तुलसीदास की भाँति शेन नुंन के सम्बन्ध में किंवदन्ती है कि वह अपनी पत्नी द्वारा तिरस्कृत होते रहने के कारण ही चिकित्सा विज्ञान की अद्भुत उन्नति करने में संलग्न हो सका। उसने पारिवारिक अशांति से खिन्न होकर पेड़-पौधे लगाने और उनकी अनेक जातियाँ संचित करने का उद्योग प्रारम्भ किया। पत्नी के दुर्व्यवहार से खिन्नचित होने के कारण उसे जीवन नीरस प्रतीत होने से यह चिन्ता नहीं रहती कि वह जीवित रहेगा या मृत हो जायगा। अतएव निर्द्वन्द्व होकर वह किसी भी पेड़-पौधे के जड़, मूल, पत्ते या फल, फूल आदि को खाकर उसके प्रभाव की परीक्षा करता। शनैः-शनैः ऐसे प्रयोगों द्वारा उसे अगणित पेड़-पौधों या औषधियों के प्रभाव का ज्ञान हो सका। इन हानिकर तथा लाभकर प्रभावों का वर्णन उसने एक ग्रंथ में

किया जो आज भी चीन का प्रसिद्ध ग्रंथ है, जो पेन साओ नाम से ज्ञात है। इसका रचयिता ३००० वर्ष ईसा पूर्व हुआ होगा।

शेन नुंग के कुछ शताब्दियों पश्चात् ह्वांगटी नाम का सम्राट् था जिसकी पत्नी किसी अज्ञात रोग से मृत हो गई। कोई चिकित्सक बचा न सका। इस दुर्घटना के पश्चात् ह्वांगटी का ध्यान चिकित्सा विज्ञान और विशेषतया शरीर विज्ञान की ओर गया। इसने ग्रंथ भी रचे जिसमें शरीर में रक्त परिभ्रमण चक्र सतत जारी रहने तथा हृदय द्वारा उसके नियंत्रण की बात भी उल्लिखित है। शवच्छेदन क्रिया पर धार्मिक प्रतिबंध कदाचित् रहता था, फिर भी शरीर विज्ञान की कुछ जानकारी आश्चर्य की बात है। इस प्रकार चिकित्सा-विज्ञान की उन्नति होते हुए भी शल्य कार्य नहीं के बराबर था। २०० ई० में ह्वाटी नाम का प्रसिद्ध शल्य-चिकित्सक हुआ। वह मुर्च्छा उत्पन्न करने की औषधि देकर शल्य कार्य करता। उदर का शल्य कर्म करने का यश भी उसे प्राप्त है, किन्तु विधियों का वर्णन नहीं मिलता।

६०० ई० में च्यानक्वे नाम का प्रसिद्ध शल्य-चिकित्सक हुआ जो उदर का शल्य कर्म कर दिखाने के लिए प्रसिद्ध था; किन्तु यह बताना आज कठिन ही है कि चीन देश में शल्य-विज्ञान की दुर्बल अवस्था ही होने से उसके उदर शल्य कर्म के पश्चात् रोगी जीवित बच भी जाते थे या नहीं।

शल्य विज्ञान की चर्चा पर विशेष रूप में चीन की स्त्रियों के पैर छोटे रखने की परम्परा पर ध्यान चला आता है। यह पैरों को बरबस बेडौल तथा क्षुद्राकार बनाने की पद्धति थी जिसे बालिकाओं को अनिवार्य रूप से सहन कर प्रारम्भ में ही पीड़ा नहीं उठानी पड़ती थी, प्रत्युत वयस्क होने पर भी वे सुगमतया चल सकने की स्वाभाविक देन से भी वंचित रह कर लँगड़ा जीवन व्यतीत करती

थीं। किन्तु चीन देश की परम्परा इस यातना तथा बेडौलपन को सौन्दर्य का साधन बनाकर एक सामाजिक व्यवस्था स्वीकार करती। अतएव वहाँ की मानवता के अर्द्धांग को यह स्वेच्छा स्वीकार करनी पड़ती।

कहा जाता है कि ईसा की पाँचवीं शताब्दी में चीन में चेन होन जोन नाम का सम्राट् हुआ। वह क्रूर-हृदय था। उसे आजीवन निर्वंश ही रहना पड़ा किन्तु जीवन के अंतिम भाग में एक कन्या उत्पन्न हो सकी, वह भी लँगड़ी। वह उसकी लाड़ली पुत्री थी किन्तु राज्य भर के चिकित्सक पैर सुधार सकने में असमर्थ रहे। अपनी कन्या को पशु के खुर समान बेडौल पैर देख उसने आज्ञा निकाली कि चीन भर में किसी भी कन्या का पैर उसकी कन्या से विभिन्न न रहने दिया जाय। इस राजाज्ञा से तब से कन्याओं का पैर मोच और कृत्रिम पदत्राण के उपयोग से छोटा तथा बेडौल बनाया जाने लगा। जो परिवार जितना सम्भ्रांत होता, उसकी बालिकाओं का पैर उतना ही अधिक छोटा बनाया जाता। इसके लिए पहले एड़ी ऊँची कर दी जाती और आगे की सुपली तोड़ कर झुका दी जाती। फिर शल्य चिकित्सक उसे चमड़े के बने पट्टों से कसकर बाँध देता। ऐसी दशा में होकर कन्या कराहती हुई शय्या पर पड़ी रहती। प्रति तीसरे मास पट्टे बदल कर फिर बाँधे जाते। बछड़े के पैर की समता कर सकने तक पैरों को ऐसी क्रिया के अधीन रहना पड़ता। कुछ वर्ष लग जाने पर जब पैर बहुत छोटे बना दिये जाते तभी कन्याएँ विवाह योग्य समझी जातीं, किन्तु निर्धन परिवार ऐसे शल्य कर्म का व्यय न सहन कर सकने से यातना से भी मुक्त रहते।

शल्य-कर्म द्वारा पुरुष को नपुंसक बनाकर राजमहल में रानियों के सेवक नियुक्त करने की प्रथा चीन में भी प्रचलित थी। चीन के पड़ोसी जापान को प्राचीन समय में शल्य-विज्ञान का ज्ञान न रहा

होगा। कालान्तर में चीन तथा बौद्ध-भिक्षुओं द्वारा चिकित्सा विज्ञान तथा शल्य-विज्ञान का जापान में प्रचार हो सका होगा।

विशेष उपयोगों का शल्य कर्म

जिस प्रकार चीन में हम मध्य युग में एक जातीय परम्परा के रूप में चिकित्सा-कार्य से असम्बद्ध शल्य कार्य का उदाहरण रमणियों के पैर छोटा करने में पाते हैं उसी प्रकार के अन्य शल्य कार्यों के उदाहरण अन्य देशों में हमें प्राप्त होते हैं। खतना की गणना भी हम ऐसे ही चिकित्सेतर शल्य कर्मों में कर सकते हैं। हमारे देश में कान फाड़कर साधुओं के कनफटे सम्प्रदाय का द्योतन इसी प्रकार का कहा जा सकता है। एक विचित्र परम्परा का उदाहरण हम भूमध्य सागर तटवासी मिनोआ नामक सभ्य जाति में पाते हैं जिसका उदय आदि यूनानी जाति रूप में हुआ कहा जा सकता है। यूनान की चरम उत्कर्ष की सभ्यता का मुख्य यूनान में उदय होने के पूर्व ही उसी वंश की यह जाति मिनोआ नाम से अपना उत्कर्ष अन्यत्र दिखा सकी थी। हमें मिनोआ जाति में महिला वर्ग में दक्षिण स्तन के शल्य कर्म द्वारा लोप कराने के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। दक्षिण अमेरिका में आमेजन की घाटी में निवास करने वाली मूल जाति (रेड इंडियन) में पूर्व काल में ही ऐसी परिपाटी नहीं थी, प्रत्युत कुछ कबीलों में अब भी पाई जाती है। हिपोक्रेटीज ने भूमध्य सागर तटीय जाति के संबंध में उल्लिखित किया है कि युवा स्त्रियों में एक विचित्र परिपाटी प्रचलित थी। अल्पायु रहने पर ही कुमारी के दाएँ स्तन को माता एक विशेष प्रकार के निर्मित इसी कार्य के उपयुक्त अत्यन्त उत्तप्त ताम्र यंत्र से दाग देती। अतएव उसका विकास रुककर शक्ति का संचय करता तथा दाएँ स्कंध तथा भुजा को पूर्ण बल प्राप्त होता। हिपोक्रेटीज के इस कथन से अन्य

विद्वान सहमत नहीं ज्ञात होते कि दाहिने स्तन को दाग कर विकसित न होने देने का उद्देश्य उस ओर के अंगों में शक्ति बढ़ाना होगा। परन्तु धनुर्विद्या की ओर ध्यान देने से हमें ज्ञात हो सकता है कि प्रत्यंचा खींचने में उभरे हुए वक्ष के स्थान पर पुरुष के समान दबी हुई छाती अधिक सुविधाजनक हो सकती है और पूर्वकाल के जीवन संघर्ष में स्त्रियों का भी धनुर्विद् होना अकल्पनीय बात नहीं है। अतएव हम ऐसे शल्य कर्म को विशेष उपयोगों का ही कह सकते हैं। धनुष बाण के अतिरिक्त भाले, बर्छे, परशु आदि हथियार भी दाहिने हाथ के खेल हैं। अतएव इन हथियारों को चलाने में अधिक कुशलता के लिए भी ऐसी परिपाटी संभव है, परंतु यह भी माना जा सकता है कि इसे सौन्दर्य वृद्धि का ही साधन माना गया हो। सौन्दर्य तो मनुष्य की अपेक्षाकृत कल्पना बुद्धि पर ही निर्भर करने वाली वस्तु कही जा सकती है।

कानों को विचित्र रूप देकर ही सौन्दर्य-वृद्धि की कल्पना का उदाहरण पेरू की मूल जाति इंका लोगों में पाया जाता है। वे अपने कान को विचित्र ढंग से छेदते और किसी प्रकार बड़ा आकार बना लेते। लंब कर्ण पुरुष कदाचित् इंका समाज की स्त्रियों की दृष्टि में सुन्दर समझे जाते थे। इसी कारण हमें ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें इंका जाति के पुरुष का कान बहुत ही लंबा सिद्ध होता है। जब पेरू में यूरोप की गोरी जातियों का आगमन हुआ और आक्रमक टोली का अगुआ पिजारों ने स्वर्ण की खोज में इंका लोगों के दमन का कुचक्र रचा तो उस इंका जाति का सरदार इस टोली का राजकीय स्वागत करते हुए धोखे में फँसा लिया गया। उसके कान पन्द्रह इंच लंबे तथा वक्षस्थल तक लटके हुए थे। इंका सरदार को बंदी बना कर पिजारों ने उसे लौटाने के लिए स्वर्ण तथा रजत राशि की भारी मात्रा पेरू देशवासियों से माँगी

परन्तु बहुमूल्य धातुओं की प्रचुर मात्रा पाकर भी इंका का बध कर केवल उसके लंबे कानों को ही काट कर इंका लोगों को लौटाया। यह उन्हें प्रसन्न करने के स्थान पर त्रस्त करने वाली ही बात थी किन्तु दुर्भाग्यवश कभी गोरे आक्रामक इंका लोगों के भी हाथ पड़े तो क्रोधाग्नि में जलते हुए पेरू वासियों ने गोरों को उबलते तेल में भून डालने का अमानुषिक कार्य कर बदला चुकाया।

कान को परिवर्द्धित या रूप परिवर्तित करने के उदाहरण हमें अन्यत्र भी मिलते हैं। यूनान तथा रोम की सभ्यता में भी ऐसे उदाहरण प्राप्त होते हैं जिसमें कृत्रिम बनाये या स्वभावतया ही कुछ पुरुषों के लंबे कान होते।

प्राचीन यूनान का शल्य-विज्ञान

यूनान की प्राचीन सभ्यता यूरोप के प्राचीन इतिहास में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। यूनान ने ईसा के पूर्व ही जिस पद तक सभ्य-जगत् को पहुँचाया उसका प्रमाण प्राचीन ग्रंथों तथा कला के प्राचीन नमूनों रूप में अब भी विद्यमान है। फलतः चिकित्सा तथा शल्य-विज्ञान की भी उस देश में अवश्य वृद्धि हुई। हमें यूनानी साहित्य में चिकित्सा के सम्बन्ध में अनेक दन्तकथाएँ भी मिलती हैं जो कम से कम यह प्रकट करती हैं कि शल्य-विज्ञान का अस्तित्व उस देश के ज्ञान-भंडार में अवश्य रहा होगा। जब यूनान के एथेंस नगर में यूनानी सभ्यता के परम उत्कर्ष का समय आ पहुँचा था, उस समय उसकी समता करने वाला कोई अन्य राष्ट्र नहीं दिखाई पड़ता था किन्तु कुछ शक्ति यदि पाई जा सकती तो वह ट्राय नगर के राज्य में थी। यूनान की शक्ति-मदमत्त सेना ने इस प्रतिद्वन्दी राष्ट्र का लोप करने के लिए युद्ध किया। यूनान के जलपोतों में शूर सैनिक पहुँच कर ट्राय नगर का दस वर्षों तक घेरा

डाले पड़े रहे। स्वर्गनगरी में रहने वाले देवता अपने आराधक भूतलवासी मानव वर्गों में से किस का पक्ष लें, यह कुछ निर्णय न कर सके। ट्रायवासी भी उनके वैसे ही आराधक थे जैसे एथेंस के नागरिक। अतएव कुछ देवता अपने यूनानी आराधकों की सहायता करने वाले देवताओं में अनेक धनुर्धर तथा लक्ष्य वेधन-कुशल थे। फलतः यूनानी पक्ष में हाहाकार-सा मच गया। यूनानी योधा आहत् हो भूमिशायी होने लगे। युद्ध का पासा पलट ही रहा था, किन्तु यूनान को अप्रत्याशित सहायता प्राप्त हो गई। छद्म रूप से काष्ठ-अश्व की रचना कर किसी देवता ने ट्रायवासियों को त्रस्त करने की योजना की। साथ ही यूनानी पक्ष समर्थक देव पक्ष से एक ऐसा शल्य चिकित्सक भी भेजा गया जो वाणविद्ध अंगों से वाणों की नोक निकाल कर यूनानी योद्धाओं की चिकित्सा कर सके। देवताओं द्वारा भेजा हुआ यह व्यक्ति एस्कुलेपियस था। यदि इसे यूनानी धन्वंतरि नाम से पुकारें तो उसमें आश्चर्य की बात क्या हो सकती है। इसी यूनानी धन्वन्तरि एस्कुलेपियस का कीर्तिगान होमर सरीखे महाकवि ने कर उसका यश स्थायी किया। किंतु एस्कुलेपियस की शल्य कुशलता ईर्षालु देवताओं को सह्य नहीं हुई। उन्होंने देखा कि एक ऐसा मानव चिकित्सक उत्पन्न हुआ है जो शल्यकर्म द्वारा मृत होते हुए व्यक्तियों को भी प्राणदान देकर अमरता के मार्ग पर अग्रसर करता है। मर्त्यों का इस रूप में देवत्व की ओर शनैः-शनैः गमन देवताओं ने सहन न कर इसका उपालंभ देवराज तक पहुँचाया। देवराज को उन्होंने बताया कि नरक तो जन-शून्य ही होता जा रहा है किंतु स्वर्ग की जन-संख्या अधिकाधिक होकर संतुलन पलट रही है।

देवताओं के अभिभावक तथा अधीश्वर देवराज ने इस भूतल वासी, अभूतपूर्व शल्यचिकित्सक एस्कुलेपियस का शीघ्र अंत करने

के लिए वज्रप्रहार का निर्णय किया। इस प्रकार देवताओं की वृद्धिशील व्यग्रता शान्त हुई किंतु भूतल-वासियों का प्रिय शल्य-चिकित्सक भूलोक से चल बसा। यूनानवासियों ने अपने धन्वन्तरि का प्राणान्त होने पर उस को पूज्य मान कर मानव-पद से उच्च स्थान देकर देव वर्ग में मान लिया और मन्दिरों में उसकी मूर्ति-स्थापना द्वारा आदर प्रदर्शन प्रारम्भ किया। किंतु एस्कुलेपियस के पृथ्वी से उठ जाने पर देवताओं की ईर्षा शान्त होने का अवसर मिला। नरक की जनसंख्या बढ़ने लगी तथा स्वर्ग के द्वार पर भीड़ कम हो चली।

यूनानवासियों का आदर-प्राप्त शल्य चिकित्सक तो मृत हो गया परन्तु यूनान के एक परिवार में उसकी वंशपरम्परा चलती रही। कहा जाता है कि ईसा पूर्व ४६० ई० में कोज द्वीप में यूनान का हिपाक्रेटीज नाम का जो प्रसिद्ध चिकित्सक उत्पन्न हुआ, वह सीधे सातवीं पीढ़ी का एस्कुलेपियस का वंशधर था। इसने अन्य वंशधरों से मिल कर एक चिकित्सा विद्यापीठ की स्थापना की। यह विद्यापीठ जगत भर में सबसे प्रख्यात माना जाता है। यूनानी धन्वन्तरि एस्कुलेपियस की शल्य चिकित्सा के सम्बन्ध में तो हमें किंवदन्तियाँ ही सुनने को मिलती हैं। परन्तु हिपाक्रेटीज की यथार्थ सफलता का उल्लेख मिलता है। यह एक किंवदन्ती है कि एस्कुले-पियस के जन्म के समय उसकी माता का देहान्त हो गया परन्तु उसके पिता एपोलो देवता को स्वयं ही नाड़ा काटना पड़ा। अतएव यह देवपुत्र संसार का मुख देख सका। जब एस्कुलेपियस के शल्य-विज्ञान की ख्याति हो चुकी थी तो एक गर्भवती महिला उसके पास चिकित्सा के लिए आई जिसे चार वर्षों से प्रसव होने की आशा होने पर भी पुत्रोत्पत्ति नहीं होती थी। किंवदन्ती है कि एस्कुलेपियस के चिकित्सा मन्दिर में भर्ती होने के दूसरे दिन उसे एक चार वर्ष

का पुत्र उत्पन्न हुआ जो अपना नाड़ा स्वयं ही काट कर माता का हाथ पकड़े पैदल ही घर गया। इस तरह की यशवृद्धि की कथाएँ हमें बताती हैं कि एस्कुलेपियस की चिकित्सा के अधीन कोई भी रोगी उसके शल्यकर्म द्वारा उसके चिकित्सा मन्दिर में मृत न हो सका। यह शत प्रतिशत सफलता आधुनिक शल्य चिकित्सकों के लिए भी आज सम्भव नहीं कही जा सकती। परन्तु इसमें सत्य का अंश कितना है, इसे हम नहीं कह सकते। किन्तु हिपाक्रेटीज़ की सफलता किंवदन्तियों के आधार पर नहीं है। वह एक प्रसिद्ध लेखक और चिकित्सक था। उसमें एक आदर्श चिकित्सक के सभी गुण थे। एक आदर्श चिकित्सक को किन नियमों का पालन करना उचित है, उसका निर्देशन उसने जिस रूप में किया उसी की पुनरावृत्ति प्रत्येक चिकित्सक को शपथ रूप में करने पर ही व्यावहारिक चिकित्सा प्रारम्भ करने का विधान अब तक प्रचलित है। उसे चिकित्सा विज्ञान में तो कुशलता प्राप्त ही थी, शल्य-विज्ञान की भी विज्ञता उसे थोड़ी न थी। उदाहरणार्थ फुप्फुस के आवरणों में मवाद (पूय) संचित होने पर फुप्फुस प्रदाह (प्लुरिसी) का रोग दूर करने के लिए वह वक्षस्थल में छेद कर मवाद बाहर निकालता था। अस्थिभग्नता तथा मोच की चिकित्सा वह आज की प्राथमिक चिकित्सा की भाँति करता था। इन रूपों में उसके शल्य-विज्ञान तथा चिकित्सा विज्ञान का प्रचार कम से कम चार शताब्दियों तक समस्त यूरोप में रहा। उसके चिकित्सा ग्रंथ का स्थान कालान्तर में गैलेन नाम के दूसरे प्रसिद्ध चिकित्सक के ग्रंथों ने लिया।

हिपाक्रेटीज़ द्वारा शल्यकार्य के व्यावहारिक उदाहरण वर्णित मिलते हैं। प्लास्टर आफ पेरिस की भाँति अस्थिभग्नता के स्थल पर छालटीन को गोंद के लेप में सिंचित कर बाँधने का विधान हिपाक्रेटीज़ ने लिखा है। ऐसी पट्टी बाँधने के पश्चात् सूख जाने पर दृढ़

बंधन का कार्य करती है। इस विधि को उसने मिस्र में सीखा था। संज्ञाशून्य करने की विधि पर भी हिपाक्रेटीज़ का ध्यान गया था। किंतु कोई उपयुक्त औषधि उसे ज्ञात हो सकी थी या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता परन्तु एक प्रयोग हिपाक्रेटीज की यशवृद्धि करने वाला कहा जा सकता है। वह शल्य कर्म करने वाले अंग को संज्ञा शून्य करने के लिए उसे बर्फ में ढक देता था। शीत के इस प्रभाव को आज के शल्य चिकित्सकों ने भी उपयोगी स्वीकार किया है। बर्फ की ठंडक से सुन्न या संज्ञा-शून्य बना अंग शल्यकर्म के अधीन होने पर क्लेश का अनुभव नहीं कर सकता था। एक शोधकर्ता ने १६०३ में अपना विचार चिकित्सा-विज्ञान के एक शोधपत्र में छापा था।

"क्षोभहीन, औषधिहीन तथा रक्तहीन नवीन शल्यकर्म पद्धति में हिम-शीतकरण का प्रयोग हो रहा है। हिम से स्नायु संज्ञाशून्य हो जाते हैं जो व्रण की प्रतिक्रिया को मस्तिष्क तक पहुँचाने वाले होते हैं। इस तरह आकस्मिक क्षोभ से बचत हो जाती है जो आज की शल्यचिकित्सा का मुख्य संकट होता है। कीटाणु जो जीवित प्राणी हैं, शीत द्वारा अपनी प्रगति अवरुद्ध पाते हैं।"

रोम का शल्य-विज्ञान

यूरोप की प्राचीन सभ्यताओं में यूनान और रोम की बड़ी प्रसिद्धि है। इनमें यूनानी सभ्यता का उदय पहले हुआ था, तथा रोम की सभ्यता कालान्तर में प्रकट हुई थी जिसका केन्द्र इटली का रोम नगर था। यूनानी चिकित्सक हिपाक्रेटीज़ का देहावसान ईसा के पूर्व चतुर्थ शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुआ था। उसके यश-विस्तार के पश्चात् प्राचीन शल्य-विज्ञान के प्रश्रय का क्षेत्र भूमध्य सागर तटस्थ अन्य नगर बने। यूनान के प्रसिद्ध शासक सिकन्दर ने

भूमध्य सागर के दक्षिणी तट पर मिस्र में अपने नाम का सिकंदरिया नगर स्थापित किया था। वह विज्ञान की प्रगति का भी केन्द्र बन कर शल्य-विज्ञान की अभिवृद्धि कर सका। उस समय मिस्र का अवसान हो चुका था और सिकन्दर ने यूनान का झंडा उस देश में ला खड़ा किया था। अतएव उस यूनानी झंडे की छत्रछाया में ही इस सिकन्दरिया नगर ने अभ्युदय किया। मकदूनिया तथा यूनान की विद्याओं ने संयुक्त रूप से सिकन्दरिया विद्यापीठ की उन्नति में सहयोग प्रदान करना प्रारम्भ किया। मिस्र का बचे-खुचे ज्ञान का भी सर्वोत्तम अंश इस ज्ञान केन्द्र के निर्माण में सहायता पहुँचा सका। चार सौ वर्षों तक इस विद्यापीठ की प्रधानता अक्षुण्ण बनी रही। विद्यापीठ के ज्ञान-पिपासु शोधकर्ताओं ने इसी नगर में पहले-पहल मृत्यु के कारण की शोध करने के लिए मानव-शरीर का छेदन करने का प्रयत्न किया। इसके लिए उन्हें बन्दियों तथा भगेड़ू दासों का शरीर चीर-फाड़ करने की अनुमति प्राप्त थी। मृत्यु का मर्म तो उन्हें ज्ञात न हो सका परन्तु मानव का अन्तरंग बहिरंग वे भली-भाँति निरीक्षण कर सके। वे शवच्छेदक अन्धपरम्पराओं से सर्वथा मुक्त नहीं थे, फिर भी उनके प्रयत्न यथार्थ वैज्ञानिक शोध के कहे जा सकते हैं। सिकन्दरिया के इन शोधकर्ताओं ने शरीर-विज्ञान का ऐसा ज्ञान प्राप्त किया कि कुछ अंगों का नाम उनमें से कतिपय अनुसंधानकर्ताओं के नाम पर आज भी प्रसिद्ध हैं। इनमें से हेरोफिलस नाम का विद्वान मानव-मस्तिष्क की क्रिया का विशेष अध्ययन करने में सफल हो सका। मस्तिष्क के एक अवयव का नाम आज भी हेरोफिलस के नाम से पुकारा जाता है।

सिकंदरिया की ज्ञान-विज्ञान साधना के ही पश्चात् रोम को अपना अभ्युदय का अवसर प्राप्त हुआ। परन्तु रोम का राजनीतिक उत्थान होने पर भी ज्ञान-विज्ञान का उत्कर्ष प्रशंसनीय रूप में नहीं

हुआ। चिकित्सा-विज्ञान की बड़ी ही दुरवस्था थी। शल्य-चिकित्सकों का तो कहीं सम्मान ही नहीं था किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से उनकी एक भारी आवश्यकता आ खड़ी हुई। जन-प्रदर्शन के लिए रोम में खड्ग धारण किये हुए योद्धाओं का विविध रूपों में युद्ध होता। उसमें आहत योद्धाओं को स्वस्थ करने के लिए शल्य कर्मियों की आवश्यकता अनुभव होने लगी। अतएव यूनानी शल्यकर्मी बुलाए जाकर रोम में रक्खे जाने लगे। वे खड्ग योद्धाओं को शल्य-कर्म द्वारा स्वस्थ कर पुनः खड्ग युद्ध के योग्य बनाते। रोम के नागरिक अपने स्वास्थ्य लाभ के लिए मंत्र-तंत्र वाले वञ्चक चिकित्सकों की ही सेवा स्वीकार करते जो उनके देशवासी होते। परन्तु खड्ग योद्धाओं तथा दासों के लिए वे विदेशी, यूनानी शल्य चिकित्सकों को बुलाते। परन्तु उन्होंने देखा कि देशवासी अंधविश्वासी वञ्चक चिकित्सकों का चिकित्सा-कर्म तो धोखा ही है और विदेशी यूनानी शल्य-चिकित्सकों द्वारा दासों या खड्ग योद्धाओं के प्रति शल्य कर्म भारी लाभदायक है। अतएव यूनानी शल्य-चिकित्सकों की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। धीरे-धीरे वे रोम के नागरिकों के भी पारिवारिक चिकित्सक होने लगे तथा जलसेना में भी स्थान दिया जाने लगा। इंगलैंड पर आक्रमण करने के समय सीजर की जल-सेना में नेत्र-चिकित्सक, अस्थि-परिस्थापक तथा चिकित्सक भी थे। सम्राट क्लाडियस का राजचिकित्सक तो २०,००० पौण्ड की वार्षिक वृत्ति पाता था। शल्य-चिकित्सक का रोम ने भी आदर करना सीखा।

ईसा के जन्म के तीन दशक बीत जाने पर रोम में एक महान् चिकित्सक उत्पन्न हुआ जिसका नाम औरेलियस कार्नेलियस सेल्सस था। संक्षेप में यह सेल्सस नाम से ही अति प्रसिद्ध है। इस महान पुरुष ने शल्य-विज्ञान के सम्बन्ध में रोम साम्राज्य को यश प्राप्त

कराने में सफलता प्राप्त की। यूनान और सिकंदरिया के उत्कर्ष काल के पश्चात् शल्य-विज्ञान के उत्तराधिकारी रूप में सेल्सस ने अपनी योग्यता सिद्ध की।

सेल्सस को रोम ही नहीं यूरोप का धन्वन्तरि कहने में कोई अत्युक्ति नहीं हो सकती। यह एक उल्लेखनीय बात ही है कि सेल्सस कोई चिकित्सक-विज्ञान का ज्ञाता नहीं था। उसने चिकित्सा में ऊपरी रूप से ही भाग लिया। वह यूनानी साहित्य में निष्णात था। चिकित्सा विज्ञान के ग्रंथ को रोम की भाषा में सर्व प्रथम अनुवाद किया। सच पूछा जाय तो यह ग्रंथ न तो पूर्णतः सेल्सस का रचित ही स्वतन्त्र ग्रंथ था और न हिपाक्रेटीज के ग्रंथ का पूर्णतः अनुवाद ही था। उसे खिचड़ी रूप की मध्य की कोई वस्तु ही कह सकते हैं। किन्तु इस प्रयत्न ने यूनान के विज्ञान को नयी पीढ़ियों तक पहुँचाते रहने का पूर्णतया सफल कार्य किया।

यह कहना आज कठिन ही है कि सेल्सस स्वयं चिकित्सक था या नहीं, परन्तु भारतीय प्लास्टिक शल्य कर्म द्वारा मुख तथा नासा-संधान आदि रूप के शल्यकर्मों का विशद वर्णन दिया है। एक स्थान से मांस पिंड काट कर अन्यत्र क्षत अंग पर प्रयुक्त करना ही प्लास्टिक शल्य-विज्ञान कहलाता है जिसमें विकृत अंग की सुडौलता रक्षित हो जाती है तथा शुद्ध अवयव से निकाले मांस-पिंड के स्थान पर स्वभावतः नया मांस जम आता है। गुर्दे से पथरी निकालने या मूत्राशय के भाग काट फेकने तथा खूनी बवासीर की चिकित्सा का भी सेल्सस वर्णन करता है। इन सब वर्णनों में अत्यन्त कुशलता तथा मौलिकता की झलक है किन्तु यह सम्भव है कि केवल सिद्धांत रूप में ही सेल्सस ने इनका वर्णन कर दिया हो और उनका व्यावहारिक प्रयोग का भार चिकित्सकों पर छोड़ दिया हो। सेल्सस की मृत्यु के बहुत दिनों बाद तक शल्य-विज्ञान की मार्ग-दर्शिका पुस्तक

उसी की रचित रही। सेल्सस की मृत्यु सन् ५० ई० में (ईसा के बाद) हुई। महाराज्ञी मैसालिन के व्यक्तिगत चिकित्सक स्क्रिबोनियस लारगस ने सेल्सस के ग्रंथ के प्रति प्रत्यक्षतः कृतज्ञता प्रकाशित की जिससे वह शल्य-विज्ञान का ज्ञान प्राप्त कर सका। यह लारगस नाम का चिकित्सक ही प्रथम व्यक्ति था जिसने चिकित्सकों के शपथ में प्रयुक्त हिपाक्रेटीज के वाक्यों को सर्व प्रथम लिखित रूप दिया। इसके पूर्व ये मौखिक रूप से ही गुरु के मुख से शिष्य तक प्रचलित चले आ रहे थे।

रोग के चिकित्सकों में सेल्सस के पश्चात् एक महान् पुरुष उत्पन्न हुआ जो अपनी योग्यता तथा कुशलता की धाक जमाकर बहुत अधिक दिनों तक अकेला ही चिकित्सा विज्ञान का महान् आचार्य माना जाता रहा। इस चिकित्सक का नाम गैलेन था। गैलेन के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मतों का विज्ञापन किया जाता है। कोई तो भूरि-भूरि प्रशंसा कर उसे महान् पद देकर हिपाक्रेटीज़ के बाद चिकित्सा-विज्ञान का सबसे बड़ा उद्धारकर्त्ता कह उठता है। परन्तु आलोचकों का ऐसा वर्ग भी न्यून संख्या का नहीं है जो गैलेन को एक महान् रूढ़िवादी, निरंकुश, चिकित्सा-विज्ञान का अहितकारी तथा प्रतिक्रियावादी ही कहता है। इन प्रकारों की विभिन्न आलोचनाएँ यथार्थ में उसके जीवन और कार्य की ओर हमारा ध्यान अधिक आकृष्ट करने में सहायक होती हैं।

गैलेन का जन्म एशियाई कोचक (एशिया माइनर) के एक छोटे ग्राम परगामोज में सन् १३१ ई० में (ईसा के बाद) हुआ था। ३० वर्ष की आयु का होने पर यह सम्राट मरकस आरेलियस का राज शल्य-चिकित्सक नियुक्त किया गया। इस पद पर आरूढ़ रह कर तो उसने आजीवन चिकित्सा तथा शल्य-विज्ञान का अत्यधिक प्रचार किया ही, परन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् भी एक हजार वर्ष

तक वही चिकित्सा-विज्ञान का प्रामाणिक आचार्य माना जाता रहा। इतना तो निश्चित है कि वह जन्मजात प्रतिभाशाली चिकित्सक, उद्भट प्रयोगकर्त्ता एवं अद्भुत शरीर-विज्ञानवेत्ता था। किन्तु निन्दा करने वाले आलोचकों का यह कथन है कि वह एकतंत्रवादी तथा विरोधीवर्ग के प्रति अतिनिष्ठुर तथा विरोधी मत का दलनकर्त्ता था। किन्तु तथ्य तो यह है कि विद्वता तथा कुशलता होते हुए भी उसमें जो अवगुण रहे हों उनके लिए उसके जीवनकाल में दोषी कहा जाना युक्तिसंगत कहा जा सकता था। परन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् ईसाई धर्म संघ द्वारा उसके ग्रंथों को मान्यता दी गई और उसके ही चिकित्सा-मन्तव्यों को ही एक मात्र सत्य मानकर अन्य मन्तव्यों के सृजकों को सदा प्रताड़ित ही किया जाता रहा। ऐसी दशा में हमें हजार वर्ष तक प्रचलित अंधविश्वास के लिए गैलेन को ही घसीट कर दोषी बताना तो विवेक की बात नहीं कही जा सकती।

यह सत्य है कि गैलेन के चिकित्सा-सिद्धांतों को चिकित्सा-क्षेत्र में वेद वाक्य (ईसाई जगत के लिए बाइबिल-वाक्य महावरा ठीक है) मानकर राजनीतिक प्रभुता से सम्पन्न ईसाई धर्म संघ (चर्च) ने विरोध मत प्रकट करने वाले कितने ही विचारकों को धर्मान्धता के कारण जीवित जला डाला। कोई भी नया विचार या नई शोध-धारा का पनपना असम्भव ही रहा किंतु गैलेन के यथार्थ ज्ञान-सम्पादन का मूल्यांकन करना उसके व्यक्तिगत महत्त्व को प्रकट कर सकता है। जिस समय गैलेन का उदय हुआ था, व्रण-विकृति निरोधक शल्य कर्म का ज्ञान नहीं था, कीटाणु का किसी ने दर्शन भी नहीं किया था, सूक्ष्मदर्शक यंत्र निर्माण की कल्पना भी नहीं हो सकती थी, एक्सकिरण यंत्र का भी सर्वथा अभाव था। चमचमाते, सदा जंगहीन रहने वाले उत्कृष्ट शल्य शास्त्रों का भी

प्रादुर्भाव नहीं हुआ। फलतः भूल तो होना सहज स्वाभाविक बात थी, परन्तु उसने अधिकांश शुद्ध तथ्य की बातें ही इतने अभाव-ग्रस्त वातावरण में ज्ञात करने में सफलता प्राप्त की, यह कम श्रेय की बात नहीं कही जा सकती। किंतु वह ऐसे साम्राज्य का राज शल्य-चिकित्सक था जिसकी विजय-दुंदुभी रोम नगर के चहुंधा भूखंडों में बज रही थी। रोम नगर से नागरिक अपने वैभव के उल्लास में नाना क्रीड़ा प्रदर्शन करने के आयोजन करते थे जिनमें खड्ग धारियों का तुमुल युद्ध भी था। खड्ग युद्धों में किसी का मांस पिंड क्षत होता, किसी का अस्थि खंड भग्न होता, किसी का अङ्ग किसी रूप में आहत होता। किसी का किसी रूप में और वह भी ऐसे वातावरण में जहाँ बाह्यशत्रु से आपन्न होने की आशंका नहीं। प्रत्युत प्रमोद के आकांक्षी दर्शक ही चारों ओर घिरे होते। अतएव आहत वीर लड़ाकों के क्षत-विक्षत अङ्ग का सम्यक पर्यवेक्षण करने तथा उपयुक्त शल्य कर्म का सदा ही अवसर होता। राज शल्य-चिकित्सक रूप में गैलेन की इन सब स्थलों में सहज ही पहुँच थी। अतएव उसने असीम ज्ञान एवं अनुभव प्राप्त किया। उसे लिपिबद्ध कर वह चिकित्सा या शल्य कर्म के आचार्य का सम्मान पाने का अधिकारी हो सकता था।

फलतः गैलेन को हम अद्भुत सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त करते पाते हैं। उसके कौशल का एक उदाहरण दिया जा सकता है। संयोजक (अस्थि मांस) शिरा या कण्डरा (टेंडन) का कार्य मांसपेशियों को अस्थि-खंड से सम्बद्ध रखना है। संधि-बंध (लिगामेंट) का कार्य अस्थियों के जोड़ में दो अस्थियों को सम्बद्ध रखकर उनके विशेष आकार के ही अनुसार सीमित झुकाव करना है जिससे मोच न हो सके। स्नायु (नर्व) वे नसें हैं जो मस्तिष्क रूपी केन्द्रीय तार-घर से शरीर भर के अङ्गों में फैली रहकर संवाद या संवेदनशीलता

का वहन करती हैं। गैलेन के पूर्व इन सब को पृथक्-पृथक् ज्ञात नहीं किया जा सका था। इन सब को एक प्रकार की वस्तु माना जाता था किंतु गैलेन ने सूक्ष्मता से निरीक्षण कर इनके विभेद को ज्ञात किया। उसी का यह ज्ञान था कि स्नायु मस्तिष्क से सारे अंग में फैलकर शरीर के अंगों को मस्तिष्क का सम्वाद पहुँचाते हैं। अस्थि मांस संयोजक शिरा (कण्डरा) तथा सन्धिबन्ध का भी भेद उसने स्पष्ट व्यक्त किया। गैलेन के पूर्व अस्थि-मांस संयोजक शिरा की चोट या व्रण द्वारा पक्षाघात उत्पन्न हो जाता था। गैलेन ने इनका संयोजन करने की परिपाटी निकालकर हाथ तथा पैर की पूर्ण प्रगति सुरक्षित रखने की सुविधा की।

क्षत अंगों तथा कटी हुई मांसपेशियों के अतिरिक्त आमाशय के व्रणों तथा अंत्र प्रदाह की भी गैलेन ने विशद चर्चा की है। आंतों की चोट के लिए उसने क्षत अंश का परिष्कार कर चोट लगे हुए भाग की सिलाई कर देने का विधान किया। आंत को फिर उदर में ही कर उदर आवरण को सी दिया जाता। व्रण विकृति युक्त कोए की भी शल्य क्रिया करने का उल्लेख गैलेन ने किया था। शल्य कर्म के लिए अफीम खिलाकर मूर्च्छा उत्पन्न करने का भी विधान था। पशुओं का शल्य कर्म कर भी गैलेन ने मनुष्य शरीर से तुलना कर ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न किया था। उसने यह देखा था कि गले में पशु के किसी विशेष स्नायु को आहत किया जाय तो वह पशु गूंगा हो जाता है। एक बच्चे का गलगण्ड निकालने पर भी यही परिणाम हुआ। अतएव गले की उस विशेष स्नायु को शल्य कर्म में बचाने का आदेश दिया।

अरब का शल्य-विज्ञान

अरब कहने से हमारा तात्पर्य मुस्लिम जगत से ही है। मुस्लिम सम्प्रदाय के अनुयायी राष्ट्रों के अभ्युदय का अवसर ईसा की छठी शताब्दी में इस्लाम धर्म की स्थापना पर मिला। अतएव मुस्लिम धर्मानुयायी राष्ट्रों की यश-वृद्धि या बौद्धिक सफलता का वर्णन इस समय के बाद का ही किया जा सकता है। फलत: शल्य-विज्ञान की चर्चा भी हम इस समय के बाद का ही करेंगे। हजरत मुहम्मद साहब के पूर्व अरब या निकट के देश कदाचित असभ्य अवस्था में ही थे। अतएव इस्लाम धर्म के ही अभ्युदय के पश्चात् का समय हम अरब सरीखे देशों का उत्कर्ष काल कह सकते हैं। प्राचीन धार्मिक अभियानों का समाज या देश की बौद्धिक उन्नति पर बड़ा प्रभाव पड़ सकता था। जब एक नया सम्प्रदाय खड़ा होता है तो अपनी विचार-धारा के अनुसार वह समाज को एक नई नींव पर स्थापित करने का अटूट प्रयत्न करता है। इस्लाम धर्म का क्यों अभ्युदय हुआ, दूर-दूर के देशों तक उसके प्रसार का क्या उद्देश्य तथा कारण हो सकता था, इन बातों की गंभीर मीमांसा तो समाज शास्त्र का अध्ययन करने वाले विद्वान ही कर सकते हैं किन्तु हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि जहाँ-जहाँ इस्लाम धर्म का विदेशों में प्रचार हो सका, वे सब बौद्धिक दुर्बलता से ही ग्रस्त नहीं कहे जा सकते अथवा ऐसी दुर्बलता को दूर करने के लिए ही नवीन धार्मिक समुदाय का प्रसार नहीं होगा, फिर भी इस्लाम सम्प्रदाय के अनुयायियों

का नया जोश अपने मत या विचार धाराओं के प्रसार करने के उद्योग में अन्य देशों के बौद्धिक उद्योगों को किसी न किसी प्रकार प्रभावित किये बिना नहीं रह सकता था। हमें यह कहने में भी कोई संकोच नहीं हो सकता कि धर्म के उत्साह में बौद्धिक कौशल की अभिवृद्धि की अपेक्षा कुछ साम्प्रदायिक आस्थाओं या धारणाओं के प्रचार का ही अधिक ध्यान रक्खा जाता है। अतएव हम धर्मप्रचार के अनियंत्रित उत्साह में कभी-कभी बौद्धिक प्रगति का घोर अवरोध या संघर्ष उत्पन्न करते भी पा सकते हैं।

धार्मिक अभियानों की ऐसी सहज स्वाभाविक दुर्बलताओं से इस्लाम धर्म-प्रचारक मुक्त नहीं रह सकते थे। फलत: हमें अनेक विद्यापीठों, पुस्तकालयों या सांस्कृतिक केन्द्रों का संहार करने का उदाहरण केवल इन कारणों से ही पाते हैं कि वे किसी ऐसे सम्प्रदाय या धार्मिक विश्वासों के अनुयायी समाज द्वारा स्थापित थे जिनके प्रति आक्रामक धर्मप्रचारक दल सहिष्णुता नहीं रखता था। मिस्र की प्राचीन विद्यापीठ तथा संग्रहालय के संबंध में भी हम इसी प्रकार का कांड होते देखते हैं। यहाँ के पुस्तकालय को मुस्लिम आक्रामकों ने ६४० ई० में आग लगा दी। किंवदन्ती है कि स्नानागारों में जल गर्म करने के लिए पुस्तकालय की ही पांडुलिपियाँ ईंधन का कार्य करने लगीं किन्तु एक दो नहीं, चार-पाँच सहस्र संख्या के स्नानागार निरंतर छ: मास तक पांडुलिपि को ही ईंधन समान उपयोग करते पड़े रहे। किन्तु इस किंवदंती में तथ्य कितना है, इस पर विचार करने पर यह भी ज्ञात होता है कि मुसलमान आक्रमकों ने बाद में सिकंदरिया के पुस्तकालय को स्वाहा किया। उसके पूर्व तो धर्मान्ध ईसाई-धर्मसंघ ने बहुसंख्यक ग्रंथों की पांडु लिपियों को अपनी धार्मिक आस्थाओं का विरोधी समझ कर भस्म

कर दिया था। अतएव असहिष्णुता की ऐसी वेगवती लहर का ही उस युग में प्रवाह होने पर मुस्लिम दलों का अपने विरोधी ईसाई सम्प्रदाय के धार्मिक विश्वासों के अनुकूल ग्रंथों का भस्म कर देना एक स्वाभाविक घटना ही हो सकती है। जो हो, इन धार्मिक अन्ध-विश्वासों ने ज्ञान के प्रसार में भारी अवरोध खड़ा करने में हाथ बटाया। किन्तु एक बात और हुई। ईसाई सम्प्रदाय शल्य कर्म का विरोधी था। चीर-फाड़ की अनुमति नहीं थी। अतएव इस्लाम धर्म-प्रचारकों को इसके विरुद्ध भावना रख कर चिकित्सा तथा शल्य-विज्ञान की अभिवृद्धि करने की स्वाभाविक इच्छा हुई। यह शल्य-विद्या के लिए एक संतोष की ही बात कही जा सकती है।

अरब के निकटवर्ती देशों में यूनानी चिकित्सा (हिकमते तिब्बई) का प्रसार होने की एक विशेष घटना हुई थी। जब कुस्तुन्तुनिया ईसाइयों के अधिकार में रोम साम्राज्य का अंग था, सारे रोम साम्राज्य में आवश्यकतावश यूनानी चिकित्सा पद्धति का ही प्रसार होने से वहाँ भी इसका प्रचार था। पाँचवीं शताब्दी में एक यूनानी हकीम धार्मिक असहिष्णुता के कारण धर्म-बहिष्कृत कर दिया गया। एक बार ईसाई धर्मसंघ द्वारा बहिष्कृत होने का अर्थ पूर्णतः समाज-च्युत तथा दंडित होना ही था। अतएव वह चिकित्सक अपनी जान बचाने के लिए भाग निकला। उसका नाम नेस्टोरियस था। नेस्टोरियस के साथ उसके शिष्य वर्ग भी मेसोपोटामिया में एडेसा नाम के स्थान पर आ पहुँचे और यूनानी चिकित्सालय स्थापित किया; किंतु वहाँ से भी उन्हें धार्मिक विद्वेष के कारण भागना पड़ा, इस पर उन लोगों ने फारस में जाकर शरण ली। इसके परिणाम-स्वरूप एक यूनानी चिकित्सा पीठ (चिकित्सा विश्वविद्यालय) फारस में सातवीं शताब्दी तक संचालित रहा। इसका फल मुस्लिम जगत के लिए बहुत ही सुन्दर निकला। यूनानी चिकित्साचार्यों में प्रमुख

आचार्यों—हिपोक्रेटीज, गैलेन, ओरिबोसियस पौलस आदि के ग्रंथ यूनानी भाषा से अरबी में अनुवादित हुए किन्तु व्यावहारिक प्रयोगों का निषेध ही था। अतएव चीर-फाड़ का विज्ञान उन्नति न कर सका। जर्राही (शल्य कर्म) पुराने ज्ञात या प्रतिपादित सिद्धान्तों पर ही परिचालित होती। गर्भाशय तथा जननेंद्रिय संबंधी शल्य कर्मों का सर्वथा निषेध था। ऐसी स्थितियों में भी इन क्षेत्रों ने यूनान की वैज्ञानिक कुशलता को जीवित रक्खा तथा उन्नति के लिए भविष्य में अवसर आने देने की आशा विलीन न होने दी।

जब बगदाद में खलीफा की गद्दी स्थापित हुई तो वह विद्या का भी केन्द्र बनने लगा। जब फारस में नेस्टोरियस यूनानी चिकित्सा पद्धति का प्रचार करते हुए विद्यमान था तो उसके साथ ही जार्ज बेचिशुआ नाम का प्रसिद्ध जर्राह (शल्यकर्मी) भी था। जार्ज का पौत्र गैब्रियल एक बड़ा ही यशस्वी चिकित्सक हुआ जो बगदाद के कीर्तिवान खलीफा हारूँ रशीद का प्रमुख चिकित्सक नियुक्त हुआ। गैब्रियल धनाढ्य व्यक्ति था। कोट्याधीश होते हुए उसे पन्द्रह हजार रुपए मासिक वेतन तथा प्रतिवर्ष के आरम्भ पर लगभग बीस हजार रुपए का पुरस्कार प्राप्त होता था। हम एक विज्ञानाराधक को इतनी प्रचुर धनराशि मिलने की कथा सुनकर आज भी असीम हर्ष का ही अनुभव कर सकते हैं। एक बार एक खलीफा को रोगमुक्त करने के लिए उसे एक मुश्त ही पौने चार लाख रुपये का पुरस्कार प्राप्त हुआ। इतना प्रचुर प्रश्रयप्राप्त चिकित्सक अपनी उदारता तथा दूर-दर्शिता से चिकित्सालय तथा चिकित्सा-विद्यालयों की स्थापना कर सका।

बगदाद के खलीफाओं को विद्यावृद्धि के लिए असीम प्रश्रय देने की कथाएँ सुनकर तो हम अपने देश के भोज समान साहित्य तथा कला के पोषक सम्राटों की बात भूल जाते हैं। एक विद्वान

को जिसका नाम जोहान्निटस था, यूनानी ग्रंथों के अनुवाद के लिए पाण्डुलिपि के तोल के बराबर ही स्वर्ण-राशि प्रदान किये जाने की बात सुनी जाती है। यह विज्ञान के पोषण का कितना अनुपम उदाहरण है। ऐसी घटनाओं से हम यह भी अनुमान कर सकते हैं कि तत्कालीन खलीफा ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि कर समाज का जीवन स्तर उच्च करने के लिए कितने आतुर थे।

जोहान्निटस की प्रथम पुस्तक नेत्र चिकित्सा पर थी जिसमें बहुत अधिक मौलिक विचार सन्निविष्ट हैं। यह ईसा की आठवीं शताब्दी के अन्त समय की घटना है जब बगदाद में कागज बनाने का कारखाना भी खुल गया था। पार्चमेंट या पेपिरस वल्कल निर्मित पत्रों की जगह चीन से आये यथेष्ट मात्रा में कागज का इस समय उपयोग होने लगा था। अतएव विद्याओं का प्रसार भी स्वाभाविक ही था।

जोहान्निटस के कार्य को तो थोड़ा प्रारम्भिक मौलिक कार्य ही कह सकते हैं, परन्तु रामजीया अर-राजी (८५०-९३२ ई०) तो अत्यधिक मौलिक विचारों का तथा व्युत्पन्न व्यक्ति था। इसका जन्म तेहरान के निकट हुआ था। इसने ३० वर्ष की अवस्था में चिकित्सा-विज्ञान का अध्ययन प्रारम्भ किया किन्तु कालान्तर में इसने जितना अधिक साहित्य तैयार किया उसकी कुल पुस्तकों की संख्या तीन-सौ तक पहुँचती थी। दुर्भाग्य की बात ही है कि उनमें से अधिकांश अब लुप्त ही हैं। किन्तु चिकित्सा-विज्ञान का एक विश्व-कोष उसके द्वारा प्रणीत अब भी सुलभ है। खुले पत्रों रूप में इस पुस्तक की तोल ११ सेर थी। कहा जाता है कि अर-राजी का पिता जब पक्षाघात से ग्रस्त हुआ तो अच्छे से अच्छे चिकित्सक भी उसे रोगमुक्त कर सकने में असमर्थ ही रहे। अर-राजी तो संगीत और दर्शन का ही प्रेमी था। परन्तु पिता की बीमारी ने उसे

चिकित्सा-विज्ञान की ओर प्रवृत्त किया। उसने अपने जन्म-स्थान राय में ही चिकित्सा व्यवसाय प्रारंभ किया। इसलिए वह राजी या रायजी नाम से प्रसिद्ध हुआ।

चिकित्सा-विज्ञान में सफलता प्राप्त करने के कारण रायजी बगदाद के विख्यात विश्व-विद्यालय में एक उच्च अधिकारी हुआ। उसने नये भवन के निर्माण के लिए अनेक स्थानों पर खुले स्थान में मांस पिंड टाँग दिये। जिस स्थान का मांस पिंड सबसे विलंब में सड़ान उत्पन्न कर सका, उसे ही उसने सर्वोत्तम स्थान निर्धारित कर भवन का निर्माण उस स्थल पर कराया। रायजी को प्रमुख चिकित्सक का स्थान ग्रहण किये अभी बहुत अधिक दिन नहीं हुए थे कि बगदाद के खलीफा से उसका मनमुटाव हो गया। खलीफा ने उसे दंड देने के लिए कठोर आज्ञा दी कि उसकी पुस्तक से ही उसके सिर पर उस समय तक प्रहार किया जाय जब तक कि सिर या पुस्तक, दोनों में से एक ध्वस्त न हो जाय। दुर्भाग्यवश रायजी का सिर ही पहले ध्वस्त हो गया तथा वह चोट के कारण अंधा हो गया किन्तु अपनी वृद्धावस्था में इस विपत्ति के निराकरण के लिए उसने अंधापन दूर करने के लिए शल्य कर्म कराना अस्वीकार किया। उसका कथन था कि यथेष्ट मानव-यातना देखने का उसे अवसर मिल चुका है।

रायजी के ग्रंथों का विषय चिकित्सा-विज्ञान ही नहीं था, उसने गणित, ज्योतिष तथा दर्शन पर भी अनेक ग्रंथ लिखे थे। चिकित्सा-विज्ञान के ग्रन्थों में अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर थे। उसने चिकित्सकों तथा रोगियों को उपदेश देने की कोशिश की है। वह जादू-टोने, टोटकों आदि से चिकित्सा की आशा करना व्यर्थ बताता था। उसने सूक्ष्म विवेचन कर भी चिकित्सा विज्ञान के अनेक

पहलू पर ग्रन्थ लिखे हैं। वह तर्कवादी था। इसका एक उदाहरण है। उसने लिखा है:—

"यदि गैलेन और अरस्तू किसी बात से सहमत हैं, वह बात ठीक ही है। परन्तु इन दोनों में मतभेद है तो सत्य निर्णय करना कठिन है।" दमा रोग की चर्चा करते उसने लिखा है, "बेनमेस्यू का कथन है कि दमा से पीड़ित व्यक्ति को लोमड़ी के सुखाये फेफड़े का चूर्ण पेय पदार्थ में घोल कर लेना चाहिए। गैलेन का कथन है कि बहुत से लोग मद्य में उल्लू का रक्त मिश्रित कर दमा अच्छा करते हैं किंतु मैं कहता हूँ उल्लू का रक्त कदापि नहीं देना चाहिए क्योंकि मैंने इसका प्रयोग करते तथा व्यर्थ सिद्ध होते देखा है।"

रायजी के ग्रन्थ लैटिन में अनुवादित होकर यूरोप के विश्व-विद्यालयों में आदर का स्थान पाते थे। अतएव इसकी विद्वत्ता का अनुमान किया जा सकता है।

अविसेन्ना को चिकित्सक-सम्राट् की पदवी दी जाती है। उसको आदर देने के लिए मुसलमानी-जगत् का गैलेन भी कहा जाता है। इसका जन्म बोखारा में ६८० में तथा १०३७ ई० में मृत्यु हुई थी। कहा जाता है कि इसने १० वर्ष की अवस्था में ही सारा कुरान रट लिया था। इसके बाद वह गणित, ज्योतिष, काव्य, तर्कशास्त्र, दर्शन आदि का अध्ययन करने निकला। इसके बाद उसने चिकित्सा-विज्ञान पारंगत किया। जनश्रुति है कि अठारह वर्ष की आयु में वह दरबारी हकीम नियुक्त हुआ।

अविसेन्ना विलक्षण पुरुष था। उसने खलीफा को रोगमुक्त कर देने के कारण दरबारी हकीम का पद प्राप्त किया, अतएव दरबार के पुस्तकालय के अमूल्य ग्रन्थ उसे पढ़ने को सुलभ हो गए। उसने ग्रंथों का सार निचोड़ कर जब ज्ञानराशि संचित कर ली तो कदाचित् दरबार के पुस्तकालय में आग लगा दी जिससे कोई अन्य व्यक्ति

उतना ज्ञान न प्राप्त कर सके। वह बड़ा अनुभवी चिकित्सक था। चिकित्सा की नई विधियाँ भी उसने निकालीं। निश्शुल्क ही औषधि वितरण कर यश प्राप्त करता था।

किसी कारण अविसेन्ना को देश छोड़ कर भागना पड़ा। वह स्थान-स्थान भटकता रहा। रायजी के जन्मस्थल राय में भी वह ठहरा और कुछ ग्रंथ रचे। अंत में वह हमदन जा पहुँचा। वहाँ दो बार वह प्रधान मंत्री नियुक्त हुआ। उसने अपनी चिकित्सा से वहाँ के अमीर का उदरशूल दूर कर यह पद प्राप्त किया। दिन भर शासन प्रबंध करता। कार्य समाप्त कर सन्ध्याकाल कुछ समय तक अध्ययन करता। तत्पश्चात् पाण्डुलिपि, चिकित्सा ग्रंथादि ताक पर रख कर रात्रि का शेष समय मद्यपान एवं रमणियों तथा वारांगनाओं के मध्य भोग-विलास में लिप्त रह कर व्यतीत करता। विद्वत्ता और व्यसन का यह संयोग अविसेन्ना को उमर खय्याम के भ्रम में डाल देता है। इन व्यसनों, राजनीतिक झगड़ों आदि में रहते तथा मद्यपान करते उसकी आयु बहुत क्षीण हो गई। हमदन में ही ५७ वर्ष की आयु में उसका देहान्त हो गया। इसकी एक पुस्तक पाँच जिल्दों में थी जो यूरोप में सत्रहवीं शताब्दी तक प्रामाणिक पुस्तक थी।

सालेर्नो चिकित्सा-विद्यालय

सालेर्नो इटली के एक नगर और बंदरगाह का नाम है। यह इसी नाम की खाड़ी पर नेपल्स से ३४ मील दूर बसा हुआ है। जनसंख्या लगभग ६२,००० ही होगी। यहाँ ग्यारहवीं शताब्दी का निर्मित वृहद् गिरजाघर अत्यंत सुन्दर प्रस्तर-खचित चित्रों से सुशोभित है। मध्य युग में कुछ समय तक नार्मन लोगों का यहाँ अधिकार हुआ था। नार्मन लोगों का मूल स्थान उत्तरी यूरोप था। इंगलैंड पर आक्रमण कर वहीं बस जाने वाला सम्राट विजयी विलियम नारमन जाति का ही था जो फ्रांस के उत्तरी भाग के नारमंडी उपप्रांत का सरदार था। कुछ नारमन लोग इटली में भी पहुँचे थे। इन्हीं लोगों ने सालेर्नो में एक विश्वविद्यालय ११५० ई० में स्थापित घोषित किया जो चिकित्सा-विज्ञान का शिक्षण केन्द्र प्रख्यात हुआ। यह कुछ शताब्दियों पूर्व से ही चिकित्सा-विज्ञान का शिक्षण करता आ रहा था। सन् १८१७ तक यह चिकित्सा पीठ संचालित रह कर बन्द हो गया, परन्तु उसका मध्य-युग के दीर्घ काल में यूरोप में एकाकी ही चिकित्सा विज्ञान का शिक्षण करते रहना एक इतिहास की उल्लेखनीय बात है।

सालेर्नो के अभ्युदय के पूर्व पाश्चात्य जगत् में चिकित्सा-विज्ञान की बड़ी दयनीय अवस्था थी। चिकित्सा-विज्ञान का शिक्षण ईसाई धर्मसंघ (चर्च) के हाथ में था। जो थोड़े बहुत चिकित्सालय थे वे गिरजाघरों से ही सम्बद्ध रहते थे। शोधकार्य को

निरुत्साहित किया जाता। केवल धार्मिक विश्वास से ही रोग-मुक्ति का विश्वास किया जाता था। चिकित्सा की आवश्यकता नहीं मानी जाती थी। लगभग पाँच सौ वर्षों तक ईसाई धर्मसंघ के हाथों चिकित्सा-विज्ञान समाधिस्थ-सा ही रहा। इस परिस्थिति में नवीं शताब्दी में चार विभिन्न जातियों के उत्साही व्यक्तियों ने सालेर्नो में बैठ कर चिकित्सा-विज्ञान का किसी प्रकार उद्धार करने की एक योजना बनाई जिसमें एक चिकित्सा विद्यालय स्थापित करने का निश्चय किया गया। इस मंडली में एक यहूदी था, दूसरा पोटंस नामक यूनानी था, तीसरा सालेरनस नामक स्थानीय व्यक्ति था तथा चौथा एडेल नामक एक अरबी व्यक्ति था। इन चारों महापुरुषों में किसी एक की भी बोली दूसरे से नहीं मिलती थी, फिर भी इन लोगों ने एक निश्चय किया। चिकित्सा विद्यालय के लिए भवन बनाने का मानचित्र स्वीकृत किया गया। धर्म-संघ या किसी राज्य का प्रश्रय प्राप्त किये बिना ही इन विज्ञान-प्रेमियों ने विश्व से चिकित्सा-विज्ञान का दीप सुप्त न होने देने के लिए अपने सीमित साधनों, उत्साहों तथा विद्वत्ता का योगदान कर विद्यालय स्थापित कर दिया। इनमें विद्या प्रचार की यथार्थ लगन थी, अतएव इनका प्रयत्न निष्फल नहीं जा सकता था। ये सभी उस विद्यालय में जा जाकर चिकित्सा-विज्ञान की शिक्षा देते और ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित करते। निकट के मांटे केसिनो ईसाई-मठ में हस्तलिखित चिकित्सा ग्रन्थ थे। वे प्राप्त हो जाते। इन यथार्थ चिकित्सा-विज्ञान-प्रचारकों की लगन से अन्य लोग प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते थे। ईसाई धर्म साधकों से भी इन्हें कुछ सहायता मिलने ही लगी, परन्तु इन लोगों का उद्देश्य अपने चिकित्सा विद्यालय को ईसाई धर्म संघ से सर्वथा स्वतन्त्र रखना था। इनके विद्यालय में सभी देशों और जातियों के छात्र स्वतन्त्रतापूर्वक भर्ती हो सकते थे। ये सब को

जाति धर्म का प्रचार किये बिना ही चिकित्सा तथा शल्य विद्या द्वारा रोगमुक्ति का मार्ग प्रदर्शित करते। अन्त में नवीं शताब्दी के अन्त तक यह चिकित्सा विद्यालय विश्व भर में प्रसिद्ध हो गया। इसके चारों संस्थापक अपनी-अपनी भाषाओं में ही शिक्षण-कार्य करते। अतएव इसका रूप सार्वभौम हो गया। सब ओर से छात्र तथा विद्वान यहाँ पर आते। ईसाई धर्मसंघ के प्रतिबन्ध रूप चिकित्सा वैज्ञानिक मरुस्थल में इन प्रतिभाशाली विद्वानों ने चिकित्सा सम्बन्धी शोध-कार्य का यह मरुउद्यान ही स्थापित कर लिया था।

परिणाम यह हुआ कि विद्यालय की ख्याति सुन कर बड़े-बड़े ईसाई धर्माचार्य शल्य कार्य के लिए वहाँ पहुँचते, कितने ही राजा-महाराजा भी अपने रोगशमन के लिए परामर्श लेने के लिए विद्यालय की शरण ग्रहण करते। सच्ची लगन से चिकित्सा विद्यालय स्थापित तथा संचालित करने का ही यह सुन्दर परिणाम था।

सालेर्नो पहले से भी एक स्वास्थ्यवर्द्धक स्थान प्रसिद्ध था। स्वास्थ्यकर वातावरण के अतिरिक्त वहाँ स्नान करने ही पर स्वास्थ्य लाभ करने की जनश्रुति भी प्रचलित थी। इसी स्थान पर चार मनीषियों ने संसार का सर्वप्रथम संगठित चिकित्सा विद्यालय स्थापित किया था। वेदों का ज्ञान चार महर्षियों की मेधाशक्ति द्वारा संसार में अवतरित और प्रचारित किया जाता है। बाइबिल या इंजील भी किन्हीं महापुरुषों के हाथ संसार के मानवों के लिए भूतल पर आई। कुरान भी ईश्वर प्रेरित विधान से कही तख्तियों पर लिख कर धरती पर उतारी गई। इन सब दृढ़ धार्मिक आस्थाओं को रखने वाले आज भी बहुसंख्यक पुरुष हैं, परन्तु तर्कवादी व्यक्ति थोड़े ही हैं। अतएव इन धर्म-ग्रंथों की बात तो चाहे जो हो। परन्तु चिकित्सा-विज्ञान के उद्धारकों का भी कहीं खाता खुला हो तो

सालेर्नो चिकित्सा विद्यालय के चारों संस्थापकों को अवश्य ही यश क्षेत्र में अत्यंत उच्च पद प्राप्त होगा। वे किसी संकीर्ण सम्प्रदाय के प्रवर्तक न होकर अखिल मानव-जाति के ही कल्याणकारकों में से थे।

ग्यारहवीं शताब्दी में ईसाइयों का धर्मयुद्ध छिड़ रहा था। युद्ध धर्म का हो, या अधर्म का, मनुष्य तो सम्प्रदाय का कोई भी बिल्ला लगाये होने पर हताहत् अवश्य होगा तथा मानव-यातना के शमन में प्रयुक्त सेवक अपनी सेवाएँ अवश्य ही अर्पित करेंगे। अतएव जिस चिकित्सा विद्यालय की स्थापना किसी प्रकार का राजकीय अथवा धार्मिक प्रश्रय प्राप्त किये बिना ही हुई थी, तथा जिसका उद्देश चिकित्सा विज्ञान की यथार्थ उन्नति के लिए उसे ईसाई धर्म संघ के प्रतिबंधों से परे ही रखना था, उसी एक मात्र विद्यालय में ईसाई धर्म युद्ध के बहुसंख्यक आहतों की समुचित चिकित्सा का प्रबंध हुआ।

सालेर्नो चिकित्सा विद्यालय में सहस्रों आहत् सैनिक आते। उनकी भली-भाँति चिकित्सा होती, किंतु उसके साथ विद्यालय की उपयोगिता तथा कीर्ति का भी खूब प्रचार होता। सालेर्नो के स्वतन्त्र चिकित्सा विद्यालय की स्थापना ने यूनानी तथा अरबी चिकित्सा विज्ञान को लुप्त हो जाने से बचा लिया और भावी संसार के ज्ञान वर्द्धन के लिए रक्षित छोड़ा। उस ज्ञान की रक्षा भी हुई तथा घायलों की चिकित्सा का व्यावहारिक उपयोग भी हुआ।

सालेर्नो की विभूतियों में एक अफ्रीका का दास आज अपना नाम अमर छोड़ गया है। इसका नाम कान्स्टैन्टाइन था। यह अफ्रीकीय पुरुष ६ फुट लम्बा व्यक्ति था। इसका बड़ा डीलडौल तथा भयानक मुखाकृति आन्तरिक सेवा भावना एवं अद्भुत ज्ञान के कारण रोगियों तथा चिकित्सा-विज्ञान के छात्रों के लिए आकर्षण

की ही वस्तु बन गई थी। सालेर्नो के चिकित्सालय तथा विद्यालय में यह विद्यमान पाया जा सकता था। यह सालेर्नो के विद्वानों में सर्वोच्च स्थान ग्रहण करने वाला कहा जा सकता है। इसने अनेक ग्रंथों का प्रणयन, संकलन तथा भाषान्तर कर ग्यारहवीं शताब्दी को चिकित्सा-विज्ञान की कथा में उच्च स्थान दिलाया।

कान्स्टैन्टाइन का जन्म कार्थेज में सन् १०१० ई० में हुआ था। एशिया माइनर में फीनीशियन नाम की उच्चकोटि की सभ्यता रखने वाली जाति थी। अपना प्रसिद्ध टायर नगर छोड़ कर उसने उत्तरी अफ्रीका में ट्यूनिस के निकट कार्थेज नाम का नगर बसाया था जो एक प्रसिद्ध साम्राज्य स्थापित कर सका था। कालांतर में रोम से प्रतिद्वन्द्विता में कार्थेज का पतन हुआ किन्तु चौथी शताब्दी में रोम सम्राट् आगस्टस ने फिर इसे बसाया जिससे यह रोम साम्राज्य का तृतीय नगर बन गया था। सातवीं शताब्दी में यह नगर बिल्कुल ही विध्वन्स कर दिया गया। इसी सुप्रसिद्ध स्थान में कान्स्टैन्टाइन ने जन्म धारण किया था किन्तु जन्म से दरिद्र होने के कारण वह एक दास के रूप में एक बाजीगर के हाथ बेच दिया गया। कुछ दिनों अपने स्वामी के साथ रह कर उसने जब अपनी बुद्धि का परिचय दिया तो जादूगर ने अपनी जादूगरी के कार्यों में सहायक रूप में उससे काम लेना प्रारम्भ किया। परन्तु कुछ दिनों बाद उसके मालिक की मृत्यु हो गई। इस पर उसने अपना अभागा जीवन दास की जगह एक निराश्रित रूप में परिवर्तित देखा। आश्रय का सूत्र कट जाने पर उसने अपने दुर्भाग्य का अनुभव करने के लिए विस्तृत संसार को क्षेत्र बनाया और अज्ञात दिशाओं में निरुद्देश्य रूप से भटकने लगा।

कान्स्टैंटाइन के दुर्भाग्य ने ही उसे अटूट साहस का प्रचुर भंडार प्रदान किया। वह अपने स्वामी के हस्तलिखित ग्रंथों को

बगल में समेट कर संसार में आगे बढ़ चला। पैदल चलते-चलते वह पहले ईरान पहुँचा, फिर भारत आया। अपनी इस यात्रा में उसने चिकित्सा-विज्ञान का अध्ययन किया तथा अन्त में कार्थेज लौट गया जिससे वहाँ चिकित्सक का धंधा कर सके। भारत में आने पर तक्षशिला के विद्यापीठ में कदाचित उसने अध्ययन किया हो, परन्तु इन बातों पर कुछ प्रकाश तो तत्कालीन साहित्य तथा ऐतिहासिक प्रमाणों की छानबीन करने वाले विद्वान ही कुछ सामग्री सुलभ होने पर कर सकते हैं। कुछ भी हो, कान्स्टैंटाइन ने अपने अर्जित ज्ञान तथा अनुभव से लाभ का यथेष्ट अवसर संसार को प्रदान किया।

कार्थेज पहुँचने पर एक नवागन्तुक का चिकित्सक बनकर प्रतिष्ठित स्थान ग्रहण करना कठिन ही था। अन्य स्थानीय चिकित्सकों की ईर्ष्या के कारण उसे अपने पैर चिकित्सा-क्षेत्र में जमा सकने में बड़ी ही कठिनाई अनुभव हुई। अतएव वह कार्थेज से भाग खड़ा हुआ। एक बार फिर उसे विस्तृत जगत में किसी भी दिशा में भटकते बढ़ जाने के लिए विवश होना पड़ा। ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य दुर्भाग्य का मारा कान्स्टैंटाइन यूरोप पहुँचा। वहाँ सालेर्नो चिकित्सा विद्यालय की कीर्ति ने उसे आकृष्ट किया। अरबी भाषा की अपने पास की हस्तलिखित सभी पुस्तकों को लेकर वह सालेर्नो चिकित्सा विद्यालय में पहुँचा। उस चिकित्सा पीठ ने सारे जगत से तिरस्कृत किन्तु चिकित्सा-विज्ञान में निष्णात विद्वान् का सहर्ष स्वागत किया। अन्त में इस विस्तृत संसार के छोटे से कोने में उसे सम्मान का स्थान मिल ही गया। वह विद्यालय का एक शिक्षक नियुक्त हो गया। उसे किसी सम्भ्रान्त पुरुष से योग्यता को प्रमाणित करने वाली पत्री, या कहीं से प्राप्त उपाधि पत्र प्रस्तुत करने या किसी जाति या दल का अंग बनकर गुटबंदी के भरोसे

यह पद नहीं प्राप्त हुआ, बल्कि केवल योग्यता और साधन के भरोसे ही उसे यह पद मिला। किन्तु वह भी कोई आदर प्रदर्शन या दिखावट की वस्तु नहीं थी, केवल योग्य शिष्यों को निष्कपट विद्या दान देना और एक विद्वान का सरल त्यागी जीवन बिताना था।

सालेर्नो चिकित्सा विद्यालय में कान्टैन्टाइन ने ख्याति प्राप्त की जब सालेर्नो नगर पर आठ मास घेरा डाले रहने के पश्चात् नार्मनों का अधिकार हुआ तो नार्मन सामंत राबर्ट ग्विसकर्ड ने कान्स्टैंटाइन की अपार प्रशंसा सुन कर अपने राज दरबार में आमंत्रित किया। कुछ समय के पश्चात् कान्स्टैंटाइन नार्मन सामंत का मंत्री भी नियुक्त हो गया तथा चिकित्सा विद्यालय का एक आचार्य भी बना रहा। इन दोनों कामों में उसका बहुत अधिक समय व्यय होता था, इस कारण उसे व्यक्तिगत अध्ययन तथा कार्य के लिए समय ही नहीं मिलता था। अतएव उसने दोनों कार्यों से त्यागपत्र दे दिया तथा मान्टे कैसिनो मठ में जाकर ईसाई सन्त हो गया। इस प्रकार उसे अध्ययन तथा वैज्ञानिक साहित्य निर्माण का यथेष्ट समय प्राप्त होने लगा। वह अपना समय प्राचीन यूनानी ग्रंथों तथा अपेक्षाकृत आधुनिक अरबी ग्रन्थों का लैटिन भाषा में अनुवाद करना प्रारंभ किया। यदि इन महत्त्वपूर्ण अनुवादों को कान्स्टैंटाइन ने संसार के सम्मुख न रक्खा होता तो संसार से चिकित्सा विज्ञान का बहुत कुछ अंश लुप्त हो गया होता। हम यह कह सकने में असमर्थ ही हैं कि भारतीय चिकित्सा के साहित्य का परिशीलन या अनुवाद करने का अवसर कान्स्टैन्टाइन या उसके सरीखे अन्य विद्वानों को कभी मिला या नहीं किंतु अरबी चिकित्सा ज्ञान को तो यूरोप में पहुँचाने का बहुत कुछ श्रेय इस अफ्रिकीय दास को ही दिया जा सकता है जो कालान्तर में कान्स्टैन्टाइन नाम का विद्वान

प्रसिद्ध हुआ था। उसके बहुत से अनुवादित ग्रंथों को कितने ही समय तक पाठ्य ग्रंथों की भाँति प्रयुक्त किया जाता रहा।

बारहवीं शताब्दी में जब सालेर्नो चिकित्सा विद्यालय की ख्याति अत्यन्त अधिक तथा स्थायी हो गई तो सिसली सम्राट ने इस विद्यालय में शिक्षित छात्रों की योग्यता मान्य करने की राजकीय घोषणा की। उस समय तक तो राज्यों में उन्हीं को चिकित्सक माना जाता जिनको ईसाई धर्मसंघ घोषित करता और चिकित्सा भी तो केवल ईश्वराराधना और रोगीपरिचर्या थी। औषधि या शल्य-क्रिया का निषेध ही था। धर्मसंघ के इस विधान को सिसली सम्राट द्वारा राजकीय रूप से भग्न होते देखा गया तथा सालेर्नो की यथार्थ चिकित्सा पद्धति को साधना के कारण विजय मिली।

सालेर्नो को अब चिकित्सा विद्यापीठ का रूप मिला। संसार में उसकी उपयोगिता तथा उच्च-शिक्षण को मान्यता प्राप्त हुई। सम्राट् फ्रेडरिक द्वितीय ने बाद में यह घोषित कर दिया कि सभी चिकित्सकों को चिकित्सा व्यवसाय करने के पूर्व सालेर्नो में परीक्षा देकर उत्तीर्ण होना अनिवार्य है। इस प्रकार सालेर्नो को पूर्ण प्रतिष्ठा तथा प्रश्रय प्राप्त हुआ। यहाँ पर तीन वर्षों तक प्रत्येक छात्र को तर्क-शास्त्र का अध्ययन कर लेने के पश्चात् ही चिकित्सा विज्ञान का अध्ययन प्रारम्भ करना पड़ता। लगभग २१ वर्ष की आयु में छात्र चिकित्सा विज्ञान का अध्ययन प्रारम्भ करता और पाँच वर्षों तक अध्ययन में लगा ही रहता। अन्तिम वर्ष में उसे किसी चिकित्सा-आचार्य के साथ समय व्यतीत करना पड़ता। तब कहीं वह परीक्षा में बैठ सकता। जब वह परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाता तो उसे उपाधि प्रदान की जाती और वह अपने नाम के साथ "डाक्टर" उपाधि लगा सकता। इस डाक्टर उपाधि का सर्वप्रथम प्रयोग सालेर्नो चिकित्सा विद्यालय में ही हुआ। विद्यालय से निकलने के पूर्व प्रत्येक

छात्र डाक्टर को यह घोषित करना पड़ता कि वह दीनों को निश्शुल्क औषधि वितरण करेगा। वह अपने शिक्षण कार्य की मर्यादा रक्षित रक्खेगा, किसी को मादक औषधि नहीं देगा तथा अपने निकट औषधि भंडार भी रक्खेगा। इस प्रकार उपाधि-भूषित होकर वह अपने विद्यालय की कीर्ति प्रसार के लिए संसार-क्षेत्र में प्रवेश करता।

सालेर्नो चिकित्सा विद्यालय की स्थापना की पृष्ठभूमि पर हम विचार करते हैं तो कितनी ही बातें सम्मुख आती हैं। भारत में बौद्धों के अहिंसा व्रत ने शल्य विज्ञान का जिस प्रकार लोप करना प्रारम्भ किया, उसकी पुनरावृत्ति संसार के अन्य भू-भागों में दिखाई पड़ती है। कभी तो ऐसा होता था कि ईसाई और मुसलमान परस्पर विरोधी मतावलम्बी थे, इसलिए जिस बात की निषेधाज्ञा एक धर्म द्वारा होती उसी को दूसरा धर्म कुछ प्रश्रय देता। ईसाई धर्मसंघ ने कभी विज्ञान के प्रतिरोध में झंडा खड़ा किया तो मुसलमान उसके विरोध में ज्ञान-विज्ञान को प्रश्रय देते रहते। यही कारण हुआ कि अरबी विद्वानों ने कुछ समय तक चिकित्सा तथा शल्य विज्ञान को प्रश्रय दिया परंतु शल्य-विज्ञान मुसलमानी जगत में भी हेय वस्तु समझी जाने लगी। अविसेन्ना को ही शल्य-विज्ञान से घृणा थी।

परिणाम यह हुआ कि शल्य-विज्ञान का पतन होने लगा। जीवित शरीर के अंग काटने और विशेषकर गुह्यांगों का शल्य कर्म करने का तो सर्वथा निषेध हो गया। ऐसी ही बात ईसाई जगत में भी हुई। पोप इनोसेंट तृतीय ने इस बात की धर्माज्ञा निकाली कि रक्तस्राव होने देना अधर्म है। अतएव शल्य कर्म हो ही नहीं सकता था।

जब मुसलमान और ईसाई दोनों ही ने शल्य-विज्ञान का निषेध किया तो इसके उद्धार की कोई आशा नहीं थी, परन्तु निषेधाज्ञाओं

के ही कारण लोगों का रुग्ण होना नहीं रुक सकता। लोग बीमार पड़ते, नश्तर लगाने की आवश्यकता होती। अतएव ऐसे कामों को नाऊ, बधिक आदि ने अपने हाथ में लिया जिन्हें धर्माचार्यों के प्रकोपों की चिन्ता नहीं थी। उधर एक अन्य क्षेत्र भी था। ईसा की छठीं शताब्दी में एक ईसाई सन्त ने मांटे कैसिनों के ढाल पर एक मठ स्थापित किया था जिसका उद्देश्य, ईश आराधना, अध्ययन तथा रोगियों की सहायता था। इन उद्देश्यों में रोगियों की सहायता करने में तो ईसाई धर्मसंघ की निषेधाज्ञा बाधक थी। अतएव सेवा भावना का एक मार्ग यह दिखाई पड़ा कि मठ के ईसाई शिष्य अन्य साधारण व्यक्तियों के रोगी-सेवा कार्य में सहायता तथा प्रोत्साहन प्रदान करें। ईसाई धर्मसंघ की निषेधाज्ञा होने पर इसी असहाय अवस्था में मठ-निवासी कान्स्टैन्टाइन या उसी की भाँति अन्य व्यक्तियों तथा सालेर्नो चिकित्सा विद्यालय की सहायता करते रहे।

सालेर्नो चिकित्सा विद्यालय ने ऐसी स्थिति में आठ सौ वर्षों तक प्राचीन यूरोपीय जातियों तथा मुसलमानों के चिकित्सा विज्ञान को यूरोप में रक्षित और प्रचारित रक्खा। इस संस्था के बिना यूरोप में शल्य-विज्ञान तथा चिकित्सा-विज्ञान की तनिक भी उन्नति न हो सकी होती। सालेर्नो में नये अनुसंधान भी होते थे। हम शल्य कर्म के लिए मूर्च्छा उत्पन्न करने के लिए मद्य पिलाने की बात सुनते हैं। परन्तु कुछ मादक वस्तु सुँघाकर बेहोशी उत्पन्न करना कदाचित् सालेर्नो चिकित्सा विद्यालय की नयी खोज थी। अफीम तथा कुछ अन्य मादक औषधियाँ स्पंज में सिंचित कर दी जातीं और वह रोगी की नाक के सम्मुख लाया जाता। उससे रोगी मूर्च्छावस्था में हो जाता जिससे शल्य कर्म करने में सुविधा होती और रोगी को कष्ट का भी विशेष अनुभव न हो पाता।

सालेर्नो चिकित्सा विद्यालय की एक नयी बात यह भी ज्ञात होती है कि वहाँ स्त्री शल्य-चिकित्सक भी शिक्षण प्राप्त करती थीं। ट्रोटुला नाम की कोई सम्भ्रान्त रमणी किसी उच्च परिवार की थी, परन्तु अपने प्रेमी के विश्वासघात के कारण उसने अपना जीवन रोग पीड़ित मानवों की सेवा में अर्पित कर दिया था। वह एक शल्य-चिकित्सक होकर गर्भिणी माताओं की चिकित्सा करती रही।

सालेर्नो का चिकित्सा-विद्यालय बहुत दिनों तक संचालित रहा परन्तु इसके महत्त्व को मांटपेलियर ने छीन लिया और नेपोलियन ने १८११ में सालेर्नो चिकित्सा-विद्यालय को जर्जरित संस्था घोषित कर सर्वथा बंद ही कर दिया।

सालेर्नो के चिकित्सा-विद्यालय में जो चिकित्सा ग्रंथ तैयार हुए वे सर्वत्र मान्य थे। इस ग्रन्थ में सुश्रुत में वर्णित रोगी को देखने जाने के लिए वैद्यों को निर्देश की ही भाँति मनोरंजक बातें लिखी थीं जिससे चिकित्सक की मर्यादा बनी रहे, और रोगी उससे विशेष प्रभावित ही रहे किन्तु इन प्रसंगों का विशेष रूप से शल्य-विज्ञान से ही प्रयोजन नहीं कहा जा सकता।

मध्ययुगी शल्य-विज्ञान

आधुनिक युग में पाश्चात्य देशों ने ज्ञान-विज्ञान में यथेष्ट उन्नति कर ली है, अतएव शल्य-विज्ञान के विकास-क्रम को समझने के लिए हमारा ध्यान पाश्चात्य-जगत के मध्य युग की ओर जाता है। हमने सालेर्नो चिकित्सा विद्यालय के अभ्युदय की बात तो सुनी है, परन्तु यह प्रयत्न संसार के चिकित्सा-ज्ञान-कोष को अकेला परिवर्द्धित कर सकने में अपनी सीमित शक्तियों से समर्थ नहीं हो सकता था। हम यूरोप के अन्य विश्वविद्यालयों तथा मठों में केवल दर्शन, गणित तथा धर्मशास्त्र के पठन-पाठन का ही प्रचार पाते हैं। इन निराशाजनक स्थितियों में हम जब तब एकाकी प्रतिभाशाली पुरुषों को अंधकार से उठकर ज्ञान प्रकाश प्रज्ज्वलित करने के दुस्साहसिक प्रयत्नों में प्रवृत्त होते पाते हैं। उनमें कितनी विभूतियों के नाम लिये जा सकते हैं।

जिस समय केवल पूर्व पुरुषों की अर्जित ज्ञान-राशि को ही पढ़ने-पढ़ाने का क्रम था, कोई उन्नति नहीं हो रही थी तथा मौलिक विचारों को निरुत्साहित किया जाता था, उसी समय हम रोगर बेकर (१२१४-१२६४) के अपूर्व साहस तथा मेधाशक्ति को अपने चारों ओर प्रचारित अज्ञानता से ऊपर उठने का प्रयत्न करते देखते हैं। ईसाई धर्मसंघ द्वारा जिस समय शव का छेदन-भेदन कार्य निषिद्ध घोषित होकर शरीर-विज्ञान तथा शल्य कर्म का लोप हो रहा था, बारहवीं शताब्दी के अंत में केवल प्रत्येक तीन वर्षों के

बाद एक शवच्छेद की आज्ञा बड़ी कठिनाई से मिल सकी थी, उस समय रोगर बेकन नवीन विचार तथा शोध-कार्यों के प्रचारित करने के लिए बेचैन हो रहा था। उसका विचार था कि चिकित्सा-विज्ञान की प्रगति प्राचीनों के सीमित ज्ञान से अवरुद्ध नहीं रखना चाहिए। उसने अपना अपार धन प्रयोगों में ही व्यय कर दिया था। चीनी हस्तलिखित ग्रंथों से प्राप्त नुस्खे के आधार पर उसने बारूद बनाने का प्रयोग कर दिखाया। दूरदर्शक यंत्र की रचना भी की। अन्य कितने नवीन कार्य उसने किये किन्तु अपनी स्वतन्त्र विचारधारा के कारण उसे धर्मसंघ की असहिष्णुता तथा अविवेक से पन्द्रह वर्ष कारागार में निवास करना पड़ा। मृत्यु के केवल दो वर्ष पूर्व वह कारागार की यातना से मुक्त हो सका था। परन्तु उसने यातना उठाकर भी शोध कार्य को आगे बढ़ाने का श्रीगणेश किया।

बोलोग्ना (इटली) में मुंडिनस नाम का एक शल्यकर्मी हुआ जिसने रोगर बेकन द्वारा संचालित नवीन शोध-धारा में प्रवाहित होकर ज्ञान-राशि को प्रांजल रूप देने में योग देना प्रारम्भ किया। वह पहला अध्यापक था, जिसने स्वयं अपने हाथों शव की चीर-फाड़ की। उसके पूर्व अध्यापक दूर से केवल ग्रंथ पाठ ही करते जिससे उनका नाम ही रीडर (पाठक) पड़ा। यथार्थ शवच्छेद का कार्य तो हीन कार्य ही समझा जाता जिसे कोई अल्प वेतनभोगी सेवक या नाऊ ही कर दिखाता। अतएव उसे ही डिमान्स्ट्रेटर (प्रदर्शक) नाम दिया गया। मुंडिनस ने इस परम्परा को तोड़कर एक बालिका छात्रा की सहायता से शवच्छेद कार्य सम्पादित कर स्वयं अपने नेत्रों से शरीर का मर्म समझने का प्रयत्न किया। उसने ज्ञान-राशि की वृद्धि के लिए शरीर-विज्ञान पर एक पुस्तक भी लिखी। उसने केवल दो शवों की चीर-फाड़ कर ही ज्ञान प्राप्त किया

था, परन्तु उसने सीमित अनुभव द्वारा लिखी उसकी पुस्तक भी दो सौ वर्षों से भी अधिक काल तक पाठ्य पुस्तक रही।

चौदहवीं शताब्दी के प्रारंभ में गुय डे चौलियाक नाम का एक चिकित्सक हुआ। उसके समय में प्लेग ने यूरोप में इतना भयानक रूप धारण किया कि भारी जनसंख्या समाप्त हो गई। लंदन नगर के आधे व्यक्ति मृत हो गए। कोई औषधि ज्ञात नहीं होती थी। जान हथेली पर रखकर चौलियाक ने रोगियों की सुश्रूषा तथा चिकित्सा करने का प्रयत्न किया। रोगियों को रोगमुक्त करने में अपनी अवशता देखकर उसने अनुभव किया कि चिकित्सा-विज्ञान कितना अधूरा है तथा शोधकार्य की नितान्त आवश्यकता है। रोगियों का भारी रक्त स्राव करना, घर में सुगंधित वस्तुओं का धुआँ करना ही चिकित्सक के नाम पर कार्य था। लम्बे चोंगे पहनकर चिकित्सक रोगियों के घरों और बस्तियों में किंकर्तव्यविमूढ़ होकर घूमते। जब प्लेग का कोप कुछ शान्त हुआ तो चौलियाक ने शरीर-विज्ञान तथा शल्य-विज्ञान पर एक पुस्तक लिखी जो सत्रहवीं शताब्दी तक पाठ्य-पुस्तक रही। वह अपने समय का प्रसिद्ध चिकित्सक तथा शल्यकर्मी था। चौदहवीं शताब्दी के अन्त तक तो ऐसी ही स्थिति रही किंतु मुद्रण यन्त्र का इस समय आविष्कार होने से धीरे-धीरे स्थिति में अन्तर पड़ने लगा। चित्रों से विभूषित ग्रंथ प्रकाशित होने लगे। शल्य-विज्ञान के उद्धार के भी कुछ उद्योग प्रारम्भ हुए।

यूरोप में पुनर्जागरण का युग मुद्रण यंत्र तथा बारूद के आविष्कारों के पश्चात् अवतरित माना जाता है। रोगर बेकन ने अपने महान् त्याग से जो स्वतन्त्र विचारधारा का बीजवपन करने का प्रयत्न किया वह कालान्तर में फलीभूत होता दिखाई पड़ा। फ्लोरेंस के दो मेडिकी बन्धुओं में एक वहाँ का शासक था। इनके उद्योग से कला तथा साहित्य में रुचि उत्पन्न करने का उपक्रम हुआ।

लिओनोर्डो डा विंची का नाम आज संसार के प्रसिद्ध चित्रकारों में प्रसिद्ध है। उसका उदय इस समय ही हुआ। विंची बहुमुखी प्रतिभा का व्यक्ति था। वायुयान बनाने के उसके उद्योग कोरी कल्पना नहीं हैं। उसके सैकड़ों सुरम्य चित्र तो आज भी उसकी कला का प्रदर्शन करने के लिए हमारे सम्मुख विद्यमान हैं। इसका जन्म एक वकील के परिवार में १४५२ ई० में विंची नामक स्थान में हुआ था। उस समय तक गैलेन के ग्रंथ शरीर-विज्ञान के संबंध में प्रामाणिक थे। अपने चित्रों में सुन्दर अंग प्रदर्शन के लिए उसने शारीरिक गठन का ज्ञान प्राप्त करने के लिए गैलेन से आगे बढ़कर शवच्छेद द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने का उद्योग किया। शवच्छेद कर उसने अनेक नवीन तथ्य ज्ञात किये। अतएव शरीर-विज्ञान पर उसका विचार एक ग्रंथ ही लिखने का हुआ। अपने सहायक की अकाल मृत्यु हो जाने के कारण उसकी पुस्तक लिखने की अभिलाषा तो पूर्ण न हो सकी, परन्तु उसके चित्रित लगभग ८०० चित्रों में से बहुतेरे अब भी सुरक्षित हैं। इस प्रकार लिओनोर्डो के शुद्ध कला-प्रेम ने शरीर-विज्ञान का ज्ञान प्रचारित कर शल्य-विज्ञान में विशेष सहायता पहुँचाई। वह पुनर्जागरण काल का सर्वश्रेष्ठ शरीर विज्ञान-वेत्ता था। किंतु शवच्छेद कार्य में अत्यधिक रुचि रहने से उसे दंडित भी होना पड़ा। पोप ने उसे धर्मच्युत घोषित कर दिया। अन्त में १५१९ ई० में उसकी जब मृत्यु हुई, वह अपने परिवार की सम्पत्ति के उत्तराधिकार से वञ्चित, धर्मसंघ से तिरस्कृत तथा अपने समकालीन मानव समाज से अवहेलित ही था। उसने ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि में आजीवन जो उद्योग जारी रक्खा उसका पुरस्कार उसे भले ही नहीं मिला, परन्तु आज का संसार ज्ञान की उन्नति में उसको अथक योगदान देने के लिए आज भी स्मरण करता है।

पाश्चात्य जगत के चिकित्सा-विज्ञान के इतिहास में जहाँ हम

प्राचीन काल में गैलेन का नाम धन्वन्तरि या आदि चिकित्सा-आचार्य की भाँति मानते हैं, वहाँ मध्य युग में पैरासेल्सस को यह उच्चपद प्रदान किया जा सकता है। जीवन में विषम परिस्थितियों तथा द्वन्द्वों का संघर्ष कदाचित् महापुरुषों के जीवन की अनिवार्य ही वस्तु है, फलतः पैरासेल्सस भी विचित्र जीव ज्ञात होता है। एक ओर तो वह क्रोध में चाणक्य की समता करता है और दूसरी ओर स्त्री की आचारहीनता के कारण भर्तृहरि के पद को प्राप्त करता है। इसका जन्म १४९० ई० में ज्यूरिच में हुआ था। उसकी माता एक चिकित्सालय में प्रधान धात्री थी। पिता भी एक स्थानीय चिकित्सक था। योग्य माता-पिता द्वारा उसे चिकित्सा-विज्ञान की शिक्षा प्राप्त हुई। बारह वर्ष की आयु में ही वह कोरिंथिया चला गया जहाँ उसके पिता ने नौकरी कर ली थी। कुछ समय तक उसने बैसिल विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त की। फिर सीसे की खदान की प्रयोगशाला में जाकर उसने रसायन तथा खनिजों का ज्ञान प्राप्त किया। इतनी शिक्षा प्राप्त कर लेने पर जागरूक वृत्ति तथा ज्ञानार्जन की पिपासा ने उसे संसार में भ्रमण करने की प्रेरणा उत्पन्न की और वह तेईस वर्ष की अवस्था में देशाटन प्रारम्भ कर बारह वर्ष तक इधर-उधर भटकता रहा।

स्पेन में पैरासेल्सस ने विवाह किया, किंतु स्त्री की आचारहीनता के कारण उसका परित्याग कर बैसिल में चिकित्सक तथा अध्यापक का पद ग्रहण किया तथा विषादमय दाम्पत्य जीवन को विस्मृत कर देने का उद्योग किया। पैरासेल्सस क्रान्तिकारी विचारों का व्यक्ति था। वह मौलिक मार्ग का अनुगामी था। प्राचीनों की भर्त्सना करता। लैटिन में शिक्षण की परम्परा का त्याग कर जर्मन भाषा द्वारा शिक्षा देता। पुरानी लकीर पीटने के स्थान पर वह नयी तथा उत्तम चिकित्सा-विधि ज्ञात करने की प्रेरणा देता। लोगों

के उपहास की उसे चिंता नहीं थी। शल्य कर्म में उसने रसायन के उपयोग से रोग निवारण का प्रचार प्रारंभ किया। घावों को स्वच्छ रखने का आदेश भी वह देता था। मलहमों और फालतू दवाओं का घावों पर उपयोग करने का कट्टर विरोधी था। प्रकृति द्वारा उनके अच्छा होने का विश्वास करता।

बहुमूल्य वस्तुओं के चुराने की बात कुछ समझ में आ सकती है। परन्तु मुर्दों के भी चोर हो सकते हैं, यह सहज विश्वास की बात नहीं; परन्तु ज्ञान की बुभुक्षा शान्त करने के लिए शोधकों को हम यह निन्द्य कर्म भी करते पाते हैं। ऐसे ही ज्ञान-पिपासुओं में ऐंड्रियाज वेसालियस भी था। जब ज्ञानार्जन की यथार्थ जिज्ञासा के स्थान में संसार में पुरातनवाद तथा धार्मिक रूढ़ियों के प्रति अंध-विश्वास ही गढ़ बनाये था, उस समय शोधकर्त्ता का मार्ग कितना कंटकित हो सकता था। वेसालियस ने एक शव की चीर-फाड़ की जिसकी अन्त समय में उसने चिकित्सा भी की थी, तो शवच्छेद के समय मृत शरीर में कुछ जीवन के लक्षण कदाचित् विद्यमान मिले। यह इतना घोर अपराध माना गया कि वेसालियस के जान के लाले पड़ गये। उसे इस अपराध के प्रायाश्चित के लिए ही कदा-चित् यरूसलम की यात्रा के लिए विवश होना पड़ा। दुर्भाग्यवश लौटते समय उसका जहाज कहीं मार्ग में ही डूब गया और इस मेधावी की मृत्यु हुई।

वेसालियस का जन्म १५१४ ई० में ब्रूसेल्स नगर में हुआ था। इसके परिवार में कितने ही चिकित्सक हो चुके थे, इसलिए इसने परम्परागत उत्प्रेरणा प्राप्त कर चिकित्सा-विज्ञान का अध्ययन किया। कितने ही जन्तुओं का शवच्छेद कर लेने के बाद इसने एक विश्वविद्यालय में अनेक भाषाओं का पांडित्य प्राप्त किया जिससे प्राचीन चिकित्सा ग्रंथों का अनुवाद कर सके। अंत में

पेरिस विश्वविद्यालय में भर्ती हुआ। वहाँ ग्विन्थर तथा सिलवियस नाम के दो प्रख्यात शरीर विज्ञानवेत्ता थे। ये पुरातनवादी थे किंतु ग्विन्थर ने अपने शिष्य की प्रतिभा देखकर शोधकार्य के लिए उत्साहित करना प्रारंभ किया। सिलवियस तो घोर पुरातन पंथी था। वह गैलेन के प्रतिपादित सिद्धान्तों का अंधभक्त था। जब शव का चीर-फाड़ किया जाता और आँख के सम्मुख ही प्रत्यक्ष रूप से गैलेन के प्राचीन लिखित वर्णन से विभिन्न रूप दिखाई पड़ता तो सिलवियस अपने प्राचीन आचार्य को उस समय भी भ्रान्त नहीं मानता। वह यही कहता कि उस अमुक अंग का रूप गैलेन के समय से अब परिवर्तित हो गया है। ऐसी रूढ़िवादिता को पार कर भी जहाँ वेसालियस सरीखे शिष्य ज्ञान-वृद्धि करें वह विस्मयजनक ही है।

वेसालियस के समय में शरीर-विज्ञान का अध्ययन करने वालों को शव का छेदन करने के लिए यही सुविधा दी गई थी कि फाँसी पर चढ़े व्यक्तियों का मृत शरीर प्राप्त हो सके, परन्तु क्षत-विक्षत शरीर की अपेक्षा पूर्ण अंगों का शव प्राप्त करने के लिए कब्रों से मुर्दे चुपके-चुपके उखाड़ने का क्रम चलने लगा। मुर्दों के सम्बन्ध में ईसाई धर्म-संघ ने चीर-फाड़ का निषेध कर रखा था। इस कारण ज्ञानवर्द्धन के इच्छुक शोधकर्ताओं को ऐसे गुपचुप काम करने पड़े, परन्तु निषेधाज्ञा से बच कर चुपके-चुपके मुर्दों को प्राप्त कर चीर-फाड़ सीखने का क्रम बाद में ऐसा चला कि उसकी कथा सुनकर आज भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। कालांतर में शरीर-विज्ञान के शोधकर्त्ताओं को शव की आवश्यकता देख कर कुछ उत्साही या द्रव्य के लालची व्यक्तियों ने रात के अँधेरे में ताजी कब्रों को खोद-खोद कर शोधकर्त्ताओं तक मुर्दों को पहुँचाना प्रारम्भ किया, परन्तु द्रव्य के प्राप्त होने के इस साधन को उन्होंने और भी आगे बढ़ा दिया।

उनको तो किसी प्रकार मुर्दे बेच कर पैसे कमाने से ही काम था, इसलिए यदि ताजी कब्र से मुर्दे बराबर उखाड़ लाना संभव न हो तो कृत्रिम साधनों से भी मुर्दे बना कर पैसे क्यों न खड़े किये जायँ। ऐसे तीव्र विचार आने पर वे कुछ अवसर देख कर कहीं असहाय तथा भिक्षुक जर्जर व्यक्तियों को एकांत में पहुँचा कर जीवित ही गला घोंट देते और उन्हें अवसर पाकर रात के अँधेरे में शोध-कर्त्ताओं तक पहुँचा देते। ऐसे कृत्यों का बाद में जब लोगों को पता लगा तो इन कुकर्मों की निन्दा तो हुई, परन्तु शरीर-विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करने के लिए मुर्दे सुलभ करने की भी आवश्यकता समाज को प्रतीत हुई। अतएव शरीर-विज्ञान के विद्यालयों को स्वाभाविक मार्ग से मुर्दे पहुँचाने की व्यवस्था कालांतर में की जा सकी। शल्य-विज्ञान के विकास में उपर्युक्त दुर्घटनाओं का बड़ा खेदजनक वर्णन ही है, परन्तु विद्या के विकास में कृत्रिम बाधा पहुँचाने के कारण ही ऐसी भयानक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकीं। इतिहास के ये पन्ने रूढ़िवादियों और प्रगतिविरोधी धर्माचार्यों के प्रति भी भर्त्सना के भाव प्रकट कर ही न्याय कर सकते हैं।

वेसालियस को पुरातनवादिता का विरोध कर स्वतंत्र शोध का पक्षपाती होने के कारण उसका आचार्य, सिलवियस उसे अध्ययन-काल में ही विक्षिप्त कहता था। वेसालियस ने पडुआ विश्व-विद्यालय में सफलतापूर्वक शरीर-विज्ञान के शिक्षक का कार्य किया। एक बार उसकी कक्षा में पाँच सौ तक छात्र बैठते थे। उसने रायजी की पुस्तक का अनुवाद भी किया था। उसका सहायक कोलम्बस नाम का एक व्यक्ति उससे आयु में २२ वर्ष बड़ा था। १५४३ ई० में जब वेसालियस की सब से प्रसिद्ध पुस्तक मुद्रित हुई तो कोलम्बस ने उसमें सहायता भी की थी। स्पेन-सम्राट चार्ल्स पंचम की आज्ञा से जब वेसालियस मेड्रिड पहुँचा तो कोलम्बस ही उसकी

जगह पर पडुआ में शिक्षक हुआ। वेसालियस ने गैलेन की कितनी ही भूलें ढूँढ निकाली थी। उनको उसने अपनी पुस्तक में उल्लिखित किया था। वेसालियस के पडुआ से हटते ही उसके सहायक कोलंबस ने बाद में उसका तीव्र प्रतिवाद किया तथा कठदलीलों से गैलेन की पुष्टि करने का प्रयत्न किया। यह वेसालियस के बड़े ही दुख का कारण हुआ।

यूरोप के पुनर्जागरण की अपेक्षा सोलहवीं शताब्दी के युद्धों ने शल्य-विज्ञान के उत्कर्ष में विशेष सहायता पहुँचाई। फ्रांस ने इटली, इंगलैंड तथा जर्मनी के विरुद्ध युद्ध किया था, उधर प्रसिद्ध राज्य-क्रांति हुई। उन दिनों ऐम्ब्रोयज पेरी नामक एक सैनिक शल्य-चिकित्सक ने इतनी ख्याति प्राप्त की कि उसे आधुनिक शल्य-विज्ञान का पिता कहा जाता है।

ऐम्ब्रोयज पेरी का जन्म १५१० में हुआ था। उसके परिवार के अनेक सदस्य नाऊ-जर्राह रह चुके थे। जर्राही (शल्य-विज्ञान) उन दिनों एक परिवार का धंधा बन गया था। ये परिवार कितनी गूढ़ बातें गुप्त रख कर जर्राही का धंधा अपने ही परिवार में सीमित रखते। पहले कुछ घर पर ही सीख कर उसने पेरिस में जाकर कहीं काम सीखना चाहा। किसी अस्पताल में तीन वर्ष तक अनुभव प्राप्त कर वह सैनिक शल्य-चिकित्सक बन गया। वहाँ उसने अभूतपूर्व कार्य किया। पहले यह बात प्रसिद्ध थी कि गोली लगने के घाव में विष उत्पन्न हो जाता है। उसकी सफल चिकित्सा एक विशेष प्रकार के तेल को खौला कर प्रयुक्त करना ही है। इस तथ्य का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने का उसे व्यावहारिक अवसर प्राप्त हुआ। इतने अधिक सैनिक गोलियों के शिकार होते कि उनकी चिकित्सा के लिए वह तेल ही पूरा नहीं पड़ता। इसलिए उस प्रचलित चिकित्सा के स्थान पर उसे कुछ न कुछ उपाय करना पड़ा।

संयोगवश उसने अपने अटकल से अंडे, तारपीन के तेल तथा गुलाब जल का लेप बना कर उन रोगियों के घावों पर प्रयोग किया जिसके लिए उसे प्रचलित चिकित्सा वाला विशेष तेल प्राप्त नहीं हो सकता था। पेरी ने विस्मयपूर्वक यह बात देखी कि उसके लेप प्रयुक्त होने वाले घावों के रोगी तो जल्दी ठीक होने लगे, परन्तु खौलते तेल के उपयोग वाले रोगियों में ज्वर तथा व्यथा का प्रकोप दिखाई पड़ता। यह उसे समझ सकने के लिए यथेष्ट था कि खौलते तेल का उपयोग रोगी को निरर्थक यातना ही देना है तथा गोली के घावों में विष होने की बात असत्य है।

पेरी क्रान्तिकारी विचारों का चिकित्सक था। अन्य शल्य-चिकित्सक विशेष रूप की वेश-भूषा में लम्बे चोंगे पहनते, लैटिन में शिक्षा-दीक्षा देते। ये एक प्रकार से मान्य शल्य-चिकित्सक ठहरे किंतु पेरी सादे वेशों का एक नाऊ जर्राह ही था, वह शल्य-विज्ञान शिक्षण तथा लेखन फ्रांसीसी भाषा में ही करता। इस देशी बोली के चिकित्सक को तत्कालीन चिकित्सक समाज किस प्रकार आदर देता ? अतएव चिकित्सक मंडली का सम्भ्रान्त सदस्य उसे नहीं स्वीकार किया गया। परन्तु वस्तुस्थिति ने उसके अनुभव तथा चिकित्सा कुशलता के कारण शल्य चिकित्सक मंडली को कुछ दिनों बाद १५५४ ई० में उसे मान्य सदस्य स्वीकार करने के लिए विवश ही किया।

पेरी के समय में ईसाइयों के दो सम्प्रदायों में घोर कलह उत्पन्न हुआ। भ्रमवश उसे दूसरे पक्ष का समझ कर कैथोलिक ईसाई सार्वजनिक वध कार्य में संलग्न होने पर उसे भी बध कर डालना चाहते थे, परन्तु चार्ल्स नवम् ने उसे शरण देकर रक्षा की। कुछ दिनों पूर्व हेनरी द्वितीय ने रक्षकदल के कप्तान से द्वन्द्व-युद्ध ठाना था जिसमें भाले की चोट से उस की खोपड़ी टूट गई थी। स्पेन

से वेसालियस भी चिकित्सा में कुछ सहायता पहुँचाने के लिए बुलाया गया। दोनों चिकित्सकों ने चार फाँसी के दंडित अपराधियों की खोपड़ी का शल्य कर्म किया जिससे भाले की चोट का प्रभाव देखा जा सके, परन्तु हेनरी द्वितीय किसी प्रकार बच न सका। पेरी ने राज-दरबार में सम्मान प्राप्त करते ही रहकर शल्य-विज्ञान तथा चिकित्सा की पुस्तकें लिखीं। उसका कथन था कि उसने व्यावहारिक अनुभवों से ही शल्य कर्म सीखा है, परन्तु दूसरे तो किताबों से ही अधूरा ज्ञान प्राप्त कर रह जाते हैं। १५९० ई० में पेरी की मृत्यु हुई परन्तु अपने दीर्घजीवन में उसने शल्य कर्म का सुधार तथा उत्कर्ष करने में बड़ा योग दान किया।

मध्य युग की शल्य चिकित्सा के विकास पर एक विहंगम दृष्टि डालकर हम देखते हैं कि प्लेग के प्रकोप के पश्चात् पन्द्रहवीं शताब्दी का प्रारम्भ होने तक यूरोप सभी प्रमुख नगरों में चिकित्सा विज्ञान की शिक्षा के केन्द्र स्थापित हो गए थे, परन्तु शल्य-विज्ञान की उपाधि देने वाली कोई भी संस्था नहीं थी। यह हीन कार्य ही माना जाता था। कुछ कम योग्यता के लोगों को इस कार्य के लिए प्रमाण-पत्र भर दे दिया जाता था जिसमें यह उल्लिखित होता कि वे जब तक चिकित्सा कार्य में हाथ न लगावें तब तक शल्य कर्म कर सकते हैं। आज हमें यह कितनी उपहासास्पद बात ज्ञात हो सकती है। फ्रांस में एक संस्था ऐसी खुली जहाँ शल्य-विज्ञान के शिष्य गुरु के चरणों में कुछ वर्षों रहकर शल्य चिकित्सक की उपाधि प्राप्त करते। वे लम्बे चोंगों वाले शल्यकर्मी प्रसिद्ध हुए। दूसरे नाऊ शल्यकर्मी (जर्राह) छोटे चोंगों के चिकित्सक कहे जाते किंतु बाद में नाऊ जर्राहों को शल्य कर्म से वंचित रखने की राजकीय निषेधाज्ञा घोषित हुई। उनके लिए भी व्यवस्थित रूप की परीक्षा उत्तीर्ण कर ही शल्य कर्म करना आवश्यक हुआ। इंगलैंड में भी प्रसिद्ध शल्यकर्मी के

चरणों में रहकर ही शल्यकर्म की शिक्षा प्राप्त करने की सुविधा थी। शिष्य को शल्यकर्म की इस प्रकार शिक्षा प्राप्त करने के लिए गुरु के घरेलू सभी कार्यों में सहायता पहुँचानी पड़ती, परंतु प्राय: ऐसा होता कि योग्य शिष्य अपने गुरु का जामाता भी बन जाता तथा शल्यकर्म का धंधा करने में गुरु की सब कुछ सहायता प्राप्त करता। ऐसे कितने ही बड़े उदाहरण पाये जाते हैं किंतु पहले कोई, राजकीय नियंत्रण शल्यकर्म के धंधे के सम्बन्ध में नहीं था। धीरे-धीरे शल्य-विज्ञान को भी महत्ता प्राप्त होने लगी तथा हेनरी पंचम के समय में यह घोषणा हो सकी कि किसी विश्वविद्यालय के अधीन चिकित्सा-विद्यालय में शिक्षा प्राप्त किये बिना कोई शल्य कर्म न कर सके। यह शल्य-विज्ञान की उन्नति में एक महत्त्वपूर्ण पग था। इस आज्ञा का भंग करने वाले को ४० पौंड का दंड देने का भी विधान बना। चिकित्सकों तथा शल्यकर्मियों का एक संघ भी बना, परन्तु दोनों वर्ग एक दूसरे की निंदा और भर्त्सना करते। इसलिए एक बार वह टूट ही गया। नाऊ जर्राहों ने भी उत्पात मचाया। इन प्रारंभिक कठिनाइयों के पश्चात् शल्यकर्मी तथा चिकित्सक एक समान प्रतिष्ठा प्राप्त करने में समर्थ हुए।

विज्ञान के अन्य विभागों में जिस प्रकार अनेक भ्रान्त धारणाओं के रखने से पूर्वकाल में यथार्थ प्रगति का अवरोध ही होता रहा, वैसा ही उदाहरण शल्य-विज्ञान की उन्नति में अवरोधक धारणाओं के कारण पाया जाता है। शल्यकर्म के पश्चात् कुछ लक्षण उत्पन्न होते, उसकी व्याख्या नितान्त भ्रान्त की गई। जब एक शल्य चिकित्सक ने अपनी कोई भ्रान्त धारणा उस सम्बन्ध में प्रकट की तो वही भूल भावी शल्यकर्मियों के लिए आँख मूँद कर मानते जाने के लिए सत्य तथ्य का रूप धारण किये रही। पालेरमो के रोगर नामक एक प्रसिद्ध चिकित्सक ने घाव या शल्यकर्म में पीब बनना

प्रवर्तक लार्ड लिस्टर की ही भाँति मौलिक विचारों का पुरुष था। परन्तु वह कदाचित् समय से छः शताब्दियों पूर्व उत्पन्न हुआ था और उसकी बात अनसुनी ही की जा सकती थी।

थियोडोरिक की तरह सत्य का प्रतिपादन करने वाले जब-तब अन्य मनीषी भी जहाँ-तहाँ होते रहे। इटली का गुगलिलमो सालिट्टी ऐसे ही पुरुषों में था जिसका कथन था कि घाव को अपने आप भरने दिया जाय तो जल्दी भर जाता है। उसने सादे ढंग से अंडे की सफेदी तथा गुलाब जल से ही घाव की पट्टी करने का विधान बताया। तैलयुक्त गंदी पट्टियों या शूकर-मांस प्रविष्ट कराने का उसने विरोध किया किंतु उसके अनुयायी थोड़े ही थे। फ्रांस का हेनरी डी मांडेविले अवश्य उल्लेखनीय है। उसने यह प्रचारित किया कि सभी घाव स्वयं अच्छे हो जाते हैं। इसलिए शल्यकर्म के लिए वह शस्त्रों को तीक्ष्ण तथा स्वच्छ रखने की शिक्षा देता जिससे घाव में विकृति न उत्पन्न हो। उसका कथन था कि घाव को स्वच्छ रखने के अतिरिक्त रोगी का हौसला भी ऊँचा रखना चाहिए। वह कहता कि धनियों से तो तिगुना शुल्क लेना चाहिए परन्तु निर्धनों का शल्यकर्म निःशुल्क करना चाहिए। एक अत्यन्त साहस-पूर्ण बात मांडेविले की कही भूली नहीं जा सकती, "ईश्वर ने अपनी सारी सृजन शक्ति गैलेन को उत्पन्न करने में ही समाप्त नहीं कर दी।" आज स्वतंत्र अनुभव और खोज कर स्वयं यशस्वी बनने के लिए यह उक्ति कितनी उत्प्रेरक है! हमें अंध-भक्त नहीं होना चाहिए।

आधुनिक युग का आगमन

शल्य-विज्ञान की उन्नति का आधुनिक युग में अवसर मिलने के पूर्व कितनी ही अन्य घटनाओं ने ज्ञान-सोपान की वृद्धि में सहायता पहुँचाई, नवीन विचारधारा के कितने ही प्रवर्तकों ने साहसपूर्वक पुरानी रूढ़ियों तथा मिथ्या विश्वासों को दूर करने का प्रयत्न किया। उनमें विलियम हार्वी द्वारा रक्तसंचार चक्र का ज्ञान सत्रहवीं शताब्दी की सफलता थी। सालेर्नो ने जो थोड़ा बहुत प्रयत्न कर यूनान द्वारा अर्जित पुरानी चिकित्सा ज्ञान राशि को रक्षित तथा सम्बर्द्धित करने का प्रयत्न किया, उसका स्थान कालान्तर में क्रम से मांटपेलियर, पडुआ तथा लीडेन के विश्वविद्यालयों ने लिया। हालैंड में लीडेन विश्वविद्यालय की स्थापना सत्रहवीं शताब्दी में हुई थी जो उस समय संसार का सर्वश्रेष्ठ चिकित्सा विद्यापीठ बन गया था। ल्यूवेनहुक तथा स्वेमरडैम ने भी सूक्ष्मदर्शक यंत्रों द्वारा शल्य-विज्ञान या शरीर-विज्ञान की उन्नति में योग देकर हालैंड का यश विस्तार इस शताब्दी में ही किया। जर्मनी के शल्य-विज्ञान-वेत्ता विल्हेल्म फ्रैब्री ने ६०० रोगियों के शल्यकर्मों का वर्णन उल्लिखित कर सैनिक शल्यकर्मियों के लिए विशद पुस्तक प्रस्तुत की। इटली के चिकित्सक मार्सेलो मालपिघी ने सूक्ष्मदर्शक यंत्र द्वारा केशिकाओं का दर्शन कर धमनियों में हृदय से आए हुए रक्त को पुनः केशिकाओं अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म नलिकाओं द्वारा शिराओं में जाने का ज्ञान प्राप्त किया। यह हार्वी के प्रतिपादित रक्तसंचालन चक्र का दृढ़

पुष्टिकरण था। इस प्रकार कितनी ही बातों ने गैलेने की अनेक भ्रान्त धारणाओं का पूर्ण खंडन कर जिज्ञासुओं को नवीन शोधकार्य में प्रवृत्त करने का मार्ग प्रसारित किया। इंगलैंड में भी रिचार्ड वाइजमैन ने शल्य-विज्ञान पर उत्तम ग्रंथ की रचना कर इस उद्योग में हाथ बँटाया था। उसने हालैंड तथा स्पेन की नौ-सेना में रह कर तथा अपने देश की राजक्रान्ति में भी रह कर अनुभव प्राप्त किये थे। उसने शल्यकर्मियों का ऊँचा स्तर बनाने का प्रयत्न किया। इंगलैंड के भयानक प्लेग में बहुसंख्यक मृत्यु तथा लंदन नगर की भयंकर अग्निलीला से सर्वसंहार के दृश्यों को जिस शताब्दी ने देखा उसी सत्रहवीं शताब्दी ने लोगों में नूतन ज्ञानवृद्धि तथा मौलिक विचार में प्रवृत्त होने का बल प्रदान किया था। इसके पूर्व ही कापर्निकस तथा गैलीलियो ने अपने जीवन-उत्सर्ग से स्वतन्त्र विचारकों का साहस बढ़ाया ही था, ड्रेक ने संसार की आधी परिक्रमा कर दिखाई थी, अतएव शल्यकर्म भी उन्नति का अवसर क्यों नहीं पाता ?

अठारहवीं शताब्दी में अँग्रेजों ने शल्य-कर्म में जो उन्नति कर दिखाई वह उन्हें इस क्षेत्र में संसार भर में अग्रणी बना सकी। अँग्रेज शल्य-चिकित्सकों में पर्सिवेलपाट का नाम आज भी आदर-पूर्वक लिया जाता है। इसको प्रसिद्ध करने वाली बात उसके ऊपर स्वयं ही बीती दुर्घटना थी। उन दिनों शल्य-चिकित्सक घोड़े पर सवार होकर रोगियों को देखने जाते। उनके पीछे-पीछे एक सेवक चलता। चिकित्सक कहीं भी रहता, रोगी द्वारा बुलाहट होने पर ठीक पते पर शीघ्र ही अपने घोड़े पर जा पहुँचता। एक बार ऐसी यात्रा में पर्सिवेलपाट का घोड़ा कहीं लुढ़क गया और पर्सिवल का घुटना टूट गया। हड्डी टूटकर मांस तथा त्वचा से बाहर निकल आई। ऐसे आघातों को संयुक्त आघात कहते हैं जिनमें हड्डी टूट-

कर मांस तथा त्वचा का आवरण विक्षत कर देती है। घंटों के पश्चात् पर्सिवेल के आदेश से कहीं निकट के मकान के चौखटे से एक रोगी-वाहक शय्या (स्ट्रेचर) बनाई गई और उसे अस्पताल पहुँचाया गया जहाँ पर्सिवेल स्वयं ऐसी कितनी चोटों की एक मात्र दवा अंग-भंग करवा चुका था। पैर काट फेकने की तैयारी ही हो रही थी कि अस्पताल का वयोवृद्ध शल्य-चिकित्सक आ पहुँचा। उसके परामर्श से पैर काट फेकने की योजना स्थगित हुई और टूटी हड्डियों को उचित स्थान पर बिठाकर स्वच्छतापूर्वक ऊपर से पट्टी बाँधी गई। छः मास तक इस घाव के कारण उसे शय्या पर ही रहना पड़ा परन्तु अन्त में उसकी हड्डी जुटकर ठीक हो गई। पर्सिवेल पाट ने इतनी अधिक अवधि शय्या पर बिताने में मनन का अपूर्व अवसर प्राप्त किया। उसने अपने अनुभव तथा ऐसे आघात की चिकित्सा पर सुन्दर पुस्तक लिखी जो संसार भर में प्रसिद्ध हुई। ऐसे आघात को आज भी पाट के नाम पर "पाट का आघात" कहते हैं। पर्सिवेल पाट ने पचास वर्षों तक शल्य-कर्म द्वारा जन-सेवा की। अँग्रेजों के शल्य-विज्ञान के इतिहास में उसका नाम स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। उसकी मृत्यु ७५ वर्ष की अवस्था में हुई। मृत्यु के कुछ पूर्व उसने कहा था, "मेरा जीवन-दीप लगभग बुझ चुका है। मैं आशा करता हूँ कि यह दूसरों के कल्याण के लिए ही प्रज्वलित रहा है।" पर्सिवेल पाट की शल्य-कर्म-सेवा ने इंगलैंड को फ्रांस से भी अधिक सम्मानित पद प्रदान किया तथा उस देश की ख्याति आज तक भी अन्य शल्य-कर्मियों के द्वारा अक्षुण्ण रहती आई है। पर्सिवेल पाट की ही भाँति विलियम चेसेल्डन तथा जान हंटर नामक शल्य-चिकित्सकों ने भी इस शताब्दी में शल्य-विज्ञान की विशद सेवा की।

विलियम चेसेल्डन की ख्याति पथरी रोग में मूत्राशय से पथरी

निकाल बाहर करने के लिए है। पथरी रोग को दूर करने के लिए प्राचीन काल में चीन, मिस्र तथा भारत ने ख्याति प्राप्त की थी। चीन तथा मिस्र की शल्य क्रिया या चिकित्सा पद्धति का कुछ विवरण आज प्राप्त नहीं है, अतएव केवल इस रोग की चिकित्सा करने की बात ही सुनकर हमें यह ज्ञात नहीं कि वे किस प्रकार यह रोग दूर करते थे, परन्तु भारतीय चिकित्सकों द्वारा पथरी दूर करने की पद्धति का तो वर्णन सुलभ है। भारत में दो पद्धतियाँ प्रचलित थीं। एक तो उदर चीर कर मूत्राशय से पथरी निकालना था, दूसरी निम्न मार्ग से उसे बाहर करना था। तनाव की दशा में मूत्राशय उदरभित्ति के निकट कटिप्रदेशीय अस्थि के ऊपर रहता है। भारतीयों को इसकी स्थिति ज्ञात थी। अतएव उदर के आवरण का छेदन कर वे मूत्राशय से पथरी निकाल सकने में कुशल थे। योरोपीय जगत में पियरे फ्रांकों नामक शल्यकर्मी ने निम्न मार्ग से पथरी निकालने में कुशलता प्राप्त की। इस विधि में स्त्रियों के योनि मार्ग या पुरुषों के मूत्रमार्ग के कोमल भाग से यन्त्र भीतर पहुँचा कर ही पथरी निकाली जाती है। फ्रीरे जेकीज नाम के शल्यकर्मी ने उदर मार्ग से ही पथरी निकालने में यूरोप भर में बड़ी ख्याति प्राप्त की। अठारहवीं शताब्दी में इंगलैंड में सेंट थामस अस्पताल के एक शल्य-चिकित्सक फर्नी के शिष्य विलियम चेसेल्डन ने एक मिनट से भी कम समय में पथरी निकाल देने के शल्य-कर्म का प्रचार कर इस क्षेत्र में शल्य-विज्ञान की बड़ी प्रसिद्धि की। विलियन चेसेल्डन ने इस कुशलता से अपार यश प्राप्त किया। वह पहला विदेशी व्यक्ति था जो अपनी कुशलता के ही कारण फ्रांस की राजकीय शल्य-विज्ञान परिषद् का सदस्य चुना गया। एक शल्य-कर्म के लिए चेसेल्डन का शुल्क ५०० पौंड था, किन्तु उसके चिकित्सालय में इतने पर भी रोगियों की इतनी भीड़ जुटती कि एक-एक रोगी

को सप्ताहों या महीनों प्रतीक्षा करने पर ही शल्य-कर्म कराने की बारी प्राप्त होती। शल्य-कर्म में ऐसी ही कुशलताओं का यह परिणाम हुआ कि चेसेल्डन की शल्य क्रिया का अवलोकन करने के लिए यूरोप तथा अमेरिका से ही नहीं, बल्कि चीन से भी लोग पहुँचते। शल्य-विज्ञान के लिए यह कितने आह्लाद का विषय था!

जान हंटर की ख्याति शल्यों का निदान कर सकने में हुई। १७६८ ई० में वह इंगलैंड का एक प्रसिद्ध शल्य-चिकित्सक बन गया था। उस समय वह सेंट जार्ज अस्पताल का शल्य-चिकित्सक नियुक्त हो गया था तथा शिष्यों की मंडली उसे घेरे रहती थी। अपने अथक परिश्रम से ही उसे शल्य कर्म को एक व्यवस्थित विज्ञान का रूप देने का अवसर प्राप्त हुआ। उसको शल्य कर्म के अतिरिक्त जीव-वैज्ञानिक वस्तुओं का संग्रह करने की बड़ी अभिरुचि थी। उसने अपने संग्रहालय में १३,००० ऐसी वस्तुएँ एकत्र की थीं। एक महादानव के कंकाल का तो उसने ५०० पौंड मूल्य चुकाया था।

जान हंटर की एक खोज शल्य-विज्ञान के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसने एक अल्पायु हिरण पर प्रयोग किया। उसकी बड़ी धमनी को उसने एक स्थल पर दृढ़तापूर्वक बाँध दिया। रक्त का प्रवाह रुक जाने से हिरण का शरीर ठंडा-सा हो गया। दो सप्ताह के पश्चात् उसने देखा कि विचित्र बात हुई है। बँधे स्थल से ऊपर और नीचे की ओर मार्ग बना कर धमनी ने नया रूप धारण कर लिया है। यह विचित्र खोज थी। कहीं धमनी में मसे बन जाने पर उसको शल्य कर्म बड़ा भयानक कार्य था। प्रायः रोगी मर ही जाते। शल्य कर्म में धमनी फट जाती और अपार रक्त प्रवाह होता। हंटर ने एक मार्ग यह ढूँढ़ा कि ऐसे रोग में धमनी के मसे के स्थल को बाँध रखा जाय तो प्रकृति स्वयं ही रक्त-प्रवाह का दूसरा

मार्ग बना लेगी। ऐसे रोगियों को इस चिकित्सा विधि से नवीन जीवन-सा ही प्रदान करना संभव हुआ। यह धमनी बाँधने की विधि "हंटर नलिका" नाम से आज प्रसिद्ध है और इस विधि के अन्वेषक की कीर्ति आज भी प्रसारित कर रही है। जान हंटर की इस खोज से हजारों रोगियों को ऐसे शल्य कर्म द्वारा बचा सकना संभव हो सका है। जान हंटर की मृत्यु १७९३ में हुई थी। उसने अपना सारा संग्रहालय तथा लेखों और अनुभवों को लंदन के शल्य-चिकित्सकों को प्रदान कर दिया था।

जान हंटर ने अपनी छात्रावस्था तथा युवावस्था में भी किसी भी बात को बिना परखे सत्य स्वीकार नहीं किया। उसका सिद्धान्त था कि केवल पुराने कथनों या सिद्धान्तों के ही कारण कोई बात सत्य नहीं माननी चाहिए अर्थात केवल अंध-विश्वास कर ही "गुरु वाक्यं प्रमाणं" का मार्ग अनुचित है। शल्य-विज्ञान का प्रयोगों के आधार पर भी तथ्य ज्ञात करना आवश्यक है। वह इतना निर्धन था कि पहले एक दन्त-चिकित्सक के साझे में ही रहकर कार्य प्रारम्भ किया परन्तु इस अनुभव से उसने मानव दंतों का वैज्ञानिक विवेचन कर संसार की प्रथम पुस्तक लिखी। उसने व्यक्त किया कि दाँतों के गड्ढे भरने के पूर्व उनको छेदकर मवाद रहित कर लेना आवश्यक है। दन्त-चिकित्सक के साझे में ही रहकर उसने कई बार सेंट जार्ज अस्पताल में चिकित्सक का पद पाने के लिए प्रयत्न किया, परन्तु उससे न्यून योग्यता के व्यक्ति ले लिये गए और वह स्थान न पा सका। कुछ दिनों के पश्चात् उसे स्थान मिल सका। हंटर कितना साधना-रत था उसका एक जीवित प्रमाण है। विवाह का निश्चय हो चुका था। किन्तु उसने प्रयोग करने के लिए ही अपने शरीर में उपदंश रोगी के मवाद को प्रविष्ट कराया। पारा का उपयोग ही एक मात्र दवा थी। वह तीन वर्षों तक इसकी चिकित्सा कराता रहा।

इतने समय तक उसकी भावी पत्नी भी प्रतीक्षा करती रही। अंत में विवाह हुआ। विश्वास किया जाता है कि कदाचित् जान हंटर के शरीर से उपदंश का पूर्ण प्रभाव आजीवन नष्ट नहीं हो सका था और उस रोग के ही कारण रक्त नलिकाओं का क्षय होने से उसकी मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु के पश्चात् चन्दे से २०,००० पौंड एकत्र कर उसका संग्रहालय क्रय कर राष्ट्र की निधि बनाया गया जो बहुत दिनों तक शोधकों के काम आता रहा।

हंटर की शिक्षा का यह प्रभाव हुआ कि शल्य-विज्ञान के लिए शरीर-विज्ञान का सम्यक अध्ययन करना अत्यावश्यक अनुभव किया जाने लगा। फलतः इंगलैंड के चिकित्सक संसार भर के चिकित्सकों से अधिक मनोयोग से शरीर विज्ञान का अध्ययन कर शल्य-विज्ञान को उच्च पद प्रदान करते रहे। जान हंटर के शिष्यों में से सर विलियम ब्रिजर्ड ने १७८५ ई० में एक व्यक्तिगत चिकित्सा विद्यालय स्थापित किया था जो कालान्तर में लन्दन हास्पिटल मेडिकल स्कूल नाम की संस्था में परिणत हुआ। एक दूसरे शिष्य फिलिप सिंग फीसिक ने अमेरिका में पेनसिलवेनिया विश्व-विद्यालय की स्थापना की जिसमें वह स्वयं प्रथम शल्य-विज्ञान का अध्यापक नियुक्त हुआ। चेचक की चिकित्सा का आविष्कारक डा० जेनर तो जान हंटर का सबसे प्रसिद्ध शिष्य था।

शल्य-विज्ञान की उन्नति में संलग्न चिकित्सकों की राजकीय बाधाओं का अन्त उन्नीसवीं शताब्दी में हो सका, परन्तु उसके पूर्व कुछ वीभत्स कृत्यों की कथा चिकित्सा-जगत में विस्मृत नहीं की जा सकती। उन्नीसवीं शताब्दी की वे भयानक घटनाएँ हैं। जब शरीर विज्ञान के सभी विद्यालयों में विद्यार्जन की जिज्ञासा अधिकाधिक होती जा रही थी और प्रत्यक्ष चीर-फाड़ के अनुभव के लिए शव प्राप्त नहीं होते तो शव किसी भी स्रोत से प्राप्त होने पर विद्यालय

द्वारा उसका मूल्य चुकाया जाने लगा। किन्तु १८२७ में एक दुर्घटना हुई। पहले तो ताजी कब्रों से ही मुर्दे उखाड़ कर विक्रय के लिए मुर्दाचोरों द्वारा विद्यालयों में पहुँचाये जाते किन्तु विलियम हेयर और विलियम बर्क ने तो इस दिशा में अति ही कर दी। हेयर की पत्नी मैग थी जो षड्यन्त्र में सम्मिलित हुई। बर्क की पत्नी हेलेन मडौगल भी चंडाल चौकड़ी में सम्मिलित हुई। पहले तो उनका एक विश्रामगृह था जो साधारण रूप से चलता था। दुर्भाग्यवश एक ग्राहक विश्रामगृह में ही मर गया। उस पर कई पौंड बकाया था। आर्थिक हानि की चिन्ता में क्षतिपूर्ति के लिए इन्होंने उसका शव चिकित्सा विद्यालय में जाकर डा० नाक्स के हाथ बेच दिया जो उन्नीसवीं शताब्दी का एक अत्यन्त प्रसिद्ध शरीरशास्त्री था। वह राजकीय शल्य चिकित्सा विद्यालय संग्रहालय का एक उच्च अधिकारी तथा एडिनबरा का अत्यंत लोकप्रिय शरीरशास्त्री था। चंडाल चौकड़ी ने एक पग आगे बढ़ाया। वे किसी जर्जरित भिक्षुक को भुलावा देकर अपने घर के विश्रामगृह में लाते। रात को गले से तकिया लगाकर उसे इस तरह दबोच देते कि किसी प्रकार के घाव या आघात का चिह्न नहीं रहता जिससे क्रयकर्ता डाक्टर को कोई सन्देह न हो। धीरे-धीरे बत्तीस जानें उन्होंने लीं। अन्त में उनका कुकृत्य खुल गया। किसी को फाँसी हुई, कोई भाग गया, कोई जनता की क्रोधाग्नि का शिकार बना। इस प्रकार चंडाल चौकड़ी समाप्त हुई। डा० नाक्स की भी ख्याति नष्ट हुई। वह शेष जीवन अपमानित तथा उपेक्षित रूप में ही व्यतीत कर मृत हुआ।

इस दुर्घटना से प्रभावित होकर इंगलैंड की लोक सभा ने लावारिस मुर्दों को शरीर-विज्ञान के विद्यालयों को प्रदान करने के लिए एक प्रस्ताव स्वीकृत किया, परन्तु सामंत सभा ने उसे अस्वीकृत कर दिया। पुनः एक भयंकर षड्यंत्र का भंडाफोड़ हुआ। १८३१

में किंग्स कालेज अस्पताल में विलियम्स तथा बिशप नाम के दो मुर्दाचोर पकड़े गए। उनका काम पहले लोगों को मद्य पिलाकर मूर्छित कर देना और बाद में एक कुएँ में उल्टा लटकाये रख कर मार डालना था। इस तरह वे साठ जानें ले चुके थे। अब तो इस लोमहर्षक कांड का सामना सामन्त सभा भी नहीं कर सकती थी। फलतः पुनः प्रस्ताव उपस्थित किया गया और लावारिस मुर्दे चिकित्सा विद्यालयों को देने की व्यवस्था स्वीकृत कर सदा के लिए ऐसे कुकृत्यों का मार्ग अवरुद्ध किया गया और शल्य-विज्ञान की उन्नति का रोड़ा दूर हुआ।

यथार्थ वैज्ञानिक युग के अवतरण में जहाँ हम शल्य-विज्ञान के प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करने के लिए संसार को मुर्दों का त्याग कर सकने में भी बाधाएँ उपस्थित करते पाते हैं, वहाँ बहुसंख्यक छद्मजाल रचने वाले वंचकों, मिथ्याजाल फैलाने वाले व्यक्तियों, फरेबियों, कुचक्रियों आदि द्वारा युग-युग से मानव समाज के मूर्ख बनाये जाने एवं ठगे जाने के उदाहरण पाते हैं। यथार्थ बात तो यह है कि इस प्रकार की बहुतेरी कथाएँ या घटनाएँ प्रकाश में ही नहीं आ पातीं। किन्तु आज भी हम अपने देश में मिथ्याजाल में बहुसंख्यक पुरुषों को पड़ते देख मानव-विवेक को अवहेलित ही अनुभव करते हैं। छोटी-छोटी स्थानीय बातों या अंधविश्वासों को छोड़ भी दिया जाय तो हमें ऐसी अविवेकता पर सामूहिक विश्वास करने की घटनाएँ देखने को प्राप्त हो जाती हैं जिन पर तनिक भी विचार करने से प्रत्येक समझदार भारतीय को घोर लज्जा ही अनुभव हो सकती है। "मदर इंडिया" के नाम पर विदेशियों को हम भले ही मिथ्या प्रचारक कह कर संतोष कर लें किन्तु वस्तुस्थिति पर विचार कर असीम ग्लानि के अनुभव करने के अवसर आए दिन ही आते रहते हैं। उड़ीसा में एक गड़रिए के बालक को ही संसार के

सारे असाध्य रोगों को कुछ वृक्षों की छाल या जड़ से ही छूमंतर कर दूर कर देने का विश्वास कर एक-दो नहीं, १००-२०० नहीं, हजार दो हजार भी नहीं, बल्कि लाखों की संख्या में हमारे देशवासी पहुँच कर सरकार के सामने प्रबन्ध की एक भारी समस्या खड़ी कर सके थे। बाद में वही बालक स्वयं रुग्ण होने पर मध्य प्रदेश के किसी सरकारी अस्पताल में भर्ती सुनाई पड़ा। सर्वरोगहारी स्वयंभू चिकित्सक को शीशी की कृत्रिम औषधियों का आश्रित होना पड़ा। यह कोई एकाकी उदाहरण नहीं है। ऐसी घटनाओं की तालिका बनाना कोई अपनी बुद्धिमानी का प्रदर्शन तो है नहीं, अतएव केवल इंगित मात्र करने के लिए एक घटना हमने उल्लिखित की है। परन्तु ऐसी घटनाएँ या मूर्खतापूर्ण मान्यताएँ किसी एक देश की, एक समय की ही वस्तु नहीं होतीं। जनसाधारण ही नहीं, बल्कि सुधी एवं उच्चवर्ग के व्यक्तियों, शासक वर्गों तक को ऐसी ही हास्यास्पद मान्यताएँ सत्य समझ लेने के उदाहरण तो अभी कल तक भी उन देशों में पाये जा सके हैं जो विज्ञान तथा ज्ञान की अत्यधिक सफलता प्राप्त कर लेने का आज गर्व कर रहे हैं। हम कुछ घटनाओं को उल्लिखित कर इस बात पर बल देना चाहते हैं कि अंधविश्वासों तथा वंचकों के मिथ्याजाल से सब देश ग्रस्त रहते आए हैं तथा उनसे ऊपर उठ कर हमारी यथार्थ उन्नति का अवसर हो सकता है।

इंगलैंड में मैरी टोफ्क नाम की कोई देहाती स्त्री थी। उसने प्रचारित किया कि खरगोश के बच्चे ही उसके गर्भ से उत्पन्न होते हैं। एक-दो नहीं, दस-दस पन्द्रह-पन्द्रह खरगोश के बच्चे प्रत्यक्ष दिखाये ही नहीं गए, प्रत्युत एक स्थानीय धात्रीविद्याविशारद, श्री० होवर्ड ने ईश्वर की सौगंध खाकर घोषित किया कि उसने स्वयं खरगोश के बच्चे उस स्त्री के गर्भ से उत्पन्न करवाए हैं। लोगों में

इस विचित्र कथा की इतनी अधिक चर्चा फैल गई कि सरकार ने जाँच करने के लिए प्रसिद्ध शल्य-विज्ञान-विशारदों का एक आयोग स्थापित किया। वह देहाती स्त्री तो अंत तक खरगोश जनन करने की बात दुहराती गई। परन्तु मृत खरगोशों की शवपरीक्षा द्वारा ज्ञात हुआ कि उनकी अँतड़ियों में घास-पात के चिह्न हैं। अतएव उनका साधारण खरगोशों से ही उत्पन्न होना सिद्ध हुआ। जब आयोग के एक सदस्य ने धमका कर स्त्री के उदर की चीर-फाड़ कर परीक्षा करने की बात उठाई तो उस देहाती स्त्री ने सब बात उगल दी और अपनी प्रवंचना को स्वीकार किया।

एक स्त्री जोअन्ना स्टीफेंस नामक थी। वह सिद्धहस्त ठग थी। उसने पथरी रोग की चिकित्सा केवल औषधियों के बल पर करने की घोषणा की। पथरी चाहे जितनी बड़ी हो और चाहे जिस प्रकार के मूत्राशय में हो, वह उसे अपनी दवा द्वारा ही गला कर दूर करने का दावा करती। बड़े-बड़े सामन्त, सरदार, कुलीन उसके धोखे में आते और उसकी दवा का सेवन करते। यही नहीं, दुर्भाग्य-वश इंगलैंड के प्रधान मंत्री सर राबर्ट वालपोले भी पथरी रोग के शिकार थे। उन्होंने भी प्रवंचक स्त्री द्वारा प्रचारित ठगी की चिकित्सा पर विश्वास कर अपना पथरी रोग दूर कर लेना चाहा। केवल बड़े-बड़े लोगों को ठग कर ही जोअन्ना ने अपने जेब नहीं भरे बल्कि सारे राष्ट्र की आँख में उसने धूल झोंका। उसने अपनी औषधि का चुटकुला राष्ट्र के हाथ बेच देने की घोषणा की और पाँच हजार पौंड मूल्य माँगा। चंदा होने लगा किन्तु कुल दो हजार पौंड ही जुट पाए। निदान सरकार से ही प्रार्थना की गई। शेष धन सरकार ने देकर कुल पाँच हजार पौंड की माँग पूरी की। जो नुस्खा जोअन्ना ने घोषित किया उसमें ठगी छोड़ कर और कुछ भी नहीं था। उसने नुस्खे में अंडे की खोल, घोंघे, साबुन, शहद, गाजर

के बीज आदि का नाम लेकर पुड़िया, काढ़ा, गोली आदि बनाने की बात बताई थी। कैसी भारी मूर्खतापूर्ण तथा असंभव चिकित्सा थी, किन्तु मन भर तक साबुन तथा एक हजार गेलन चूने का पानी उदरस्थ कर इस नुस्खे के अनुसार दवा वर्षों तक करते रहने पर भी प्रधान मन्त्री सर राबर्ट्‌स वालपोल की मृत्यु मूत्राशय में पथरी बनी रहने से ही हुई।

रोगर ग्रांट नाम का एक फेरी करने वाला ठठेरी था। टूटे बर्तनों की मरम्मत करने में विशेष धन का लाभ न देखकर वह पहले तो एक धर्मोपदेशक बना, परन्तु बाद में एक मार्ग से जीवनयापन करने में उसने अधिक सुविधा देखी। फलत: तंत्रशास्त्री बन गया। दुर्बल नेत्रों की मंत्र-तंत्र द्वारा चिकित्सा करने की उसने प्रवंचना की। बड़े-बड़े लोगों के प्रमाणपत्र संग्रह करते देर न लगी। ऐसे अंधे व्यक्तियों के हस्ताक्षर युक्त प्रमाणपत्र उपस्थित करता जिनको उसने टोटकों से ही दृष्टि-शक्ति प्रदान की थी। कोई धर्माचार्य भी अपने हस्ताक्षर से उसका अनुमोदन करता पाया जाता। फलत: इंगलैंड की निष्ठावान रानी मेरी ने रोगर ग्रांट को राजकीय तंत्र-शास्त्री पद पर आभूषित करने का गौरव प्रदान किया।

विलियम रीड नाम का एक दर्जी निपट निरक्षर था। सिलाई के धंधे से पेट भरता न देख उसने महाजाल फैलाया। वह चलता-फिरता तंत्रशास्त्री बन गया। बड़े-बड़े समाचार पत्रों तथा पुस्तिकाओं में तड़क-भड़क के साथ अपनी अद्भुत दवाओं का विज्ञापन छपवाता। उसकी असीम ख्याति सुनकर इंगलैंड की रानी ने उसे अपना ही तंत्रशास्त्री नहीं, बल्कि राजकीय भू-सेना तथा नौ-सेना का भी तंत्रशास्त्री नियुक्त किया। अपनी सेवाओं के कारण उसने सर की भी उपाधि प्राप्त की। यह समय की बलिहारी थी तथा अज्ञानता का ज्वलंत उदाहरण था।

ठगी करने में केवल अपढ़ ही प्रवृत्त नहीं होते। शिक्षित पुरुष भी अपनी साक्षरता की पैनी छुरी से अंधविश्वासी जनसाधारण का गला काटते हैं। चेवालियर जान टेलर नाम का व्यक्ति कुलीन परिवार का तथा एक शल्य चिकित्सक का पुत्र था। स्वयं भी उसने शल्य-विज्ञान की कुछ शिक्षा प्राप्त की थी। चेसेल्डन का शिष्य भी रह चुका था। उसने वैज्ञानिक चिकित्सा-मार्ग छोड़कर तंत्र-मंत्र का मार्ग ग्रहण किया। वह चार घोड़ों की बग्घी पर बैठकर बड़ी तड़क-भड़क से चलता। शब्दाडंबर युक्त भाषण से वह श्रोता को मुग्धकर लेता। उसने नेत्र रोगों पर एक पुस्तक भी लिखी। प्रसिद्ध इतिहासकार गिबन तथा प्रसिद्ध संगीतज्ञ हेंडेल सरीखे उसे शिष्य मिले। उसने अपनी आत्मकथा भी लिखी जिसमें कितने सामाजिक कुकृत्यों, आचारहीनताओं के नग्न चित्रण थे। पुस्तक की जनता में बड़ी पूछ हुई। वह भी इंगलैंड सम्राटों का तंत्रशास्त्री नियुक्त हुआ।

एडिनबरा में जेम्स ग्राहम नाम का एक व्यक्ति था। वह एक जीनसाज का पुत्र था। प्रसिद्धतम शल्य चिकित्सक से उसने शिक्षा भी प्राप्त की। कह नहीं सकते कि चिकित्सक की उपाधि उसने प्राप्त की या नहीं, परन्तु वह चलता-फिरता स्वयं नेत्र चिकित्सक अवश्य बना। जेम्स ग्राहम चतुर पुरुष था। वह अमेरिका जा पहुँचा। उसने वहाँ फ्रैंकलिन के सम्पर्क में आकर बिजली का ज्ञान प्राप्त किया। यूरोप आकर उसने इस नयी शक्ति के चमत्कार से अपना उल्लू सीधा करने की बात सोची। एक प्रमुख स्थान पर उसने एक विशाल चिकित्सागृह खोला। बिजली से हिलते खाट, चुम्बक की शक्ति से प्रभावित कुर्सियाँ या हल्की बिजली की धारा का आनंद देने वाली प्रक्रिया उसने प्रचलित की। धनी तथा निर्धन अपनी सामर्थ्य अनुसार शुल्क देते। सब के लिए चिकित्सालय का द्वार

खुला था। मध्य में अध्यक्ष बैठता। नित्य उसके भाषण होते। श्रोता रूपी रोगियों को गायन की मधुर ध्वनियों के ताल पर बिजली के धक्कों का आनन्द लाभ कराया जाता जो गुप्त रूप से सभी कुर्सियों में नीचे तार द्वारा प्रवाहित की जा सकती। बिदाई के समय दीर्घजीवी संजीवनी रस की बोतल सब को दी जाती। स्त्रियों का भी विभाग पृथक् था। दीर्घजीवन की सस्ती बोतल बाँटने वाले चिकित्सक ने केवल ५१ वर्ष की आयु में ही यह संसार परित्याग किया। यह वैज्ञानिक प्रवंचना का मनोरम उदाहरण था।

जर्मनी का डा० मायर्सबाच मूत्र की परीक्षा द्वारा सब कुछ बता सकने की कला का ज्ञाता सिद्ध हुआ। रोगी, सम्मुख न रहते हुए ही केवल मूत्र द्वारा उसके रोग, उपचार, को बता देता तथा यह भी कह सकता कि मूत्र किसी स्त्री रोगी का है, या पुरुष रोगी का। ठगी में सब तो फँसाये नहीं जा सकते। फलतः सादी शराब या गोमूत्र ही उसके सामने कर उसकी कलई खोली गई। मद्य को ही किसी स्त्री या पुरुष का मूत्र बताता। उसकी आयु, सन्तान आदि की भी गिनती कराता। जानने वाले उसकी ठगी पर हँसते। किंतु जनता में तो उसका सम्मान बढ़ता ही गया। उसने इतनी अधिक धनराशि इस विधि से ही संचित कर ली कि अपनी वृद्धावस्था का समय बिना उद्यम किये बड़ी ही सुविधापूर्वक व्यतीत कर सका। भोली-भाली अंधविश्वासी जनता का प्रवंचकों द्वारा ठगा जाना, इसी तरह देश-देशान्तरों में भी होता चला आया है।

ठगों में भी पुरुष अपनी सफलता तथा ठगी के साधन की विविधता तथा विचित्रता के कारण उच्च तथा नीच वर्ग के माने जा सकते हैं। इनमें इटली का गैगलियोस्ट्रो नामक व्यक्ति भी था। था तो चोर और ठग ही, परन्तु दुनिया ने उसको बड़े ही उच्च वर्ग के सम्भ्रान्त पुरुष रूप में देखा। नेपल्स नगर का यह चोर और ठग

अपने जाल का क्षेत्र अन्य स्थानों में सहज फैला सकने की आशा से ही घर से बाहर निकला। वह कुछ कलाकार-सा भी था। पुराने चित्रों की नकल उतार कर अपनी बताता। बाहर आकर वह ग्विसेप बालसेमो बना। ग्विसेप किसी सम्मानित वर्ग के पुरुषों को कहते हैं। इस रूप में वह मिलन से रोम, रोम से बार्सिलोना, मेड्रिड, लिस्बन होता हुआ पेरिस आ धमका। उसकी पत्नी लोरेंजा भी साथ थी। अब उन्होंने अपना अधिक सम्मानित पद बता कर अपना नाम बालसेमो का ठाकुर (मार्किस) प्रसिद्ध किया। साथ ही प्रसिद्ध प्राकृतिक चिकित्सक होने की भी घोषणा की। कितनी अद्‌भुत शक्ति थी! वृद्ध युवा बन सकते है। निस्संतान को भी संतान उत्पन्न हो सकती है। लोहे को वह पारस पत्थर स्पर्श कराये बिना ही अपनी अद्‌भुत करामात से कंचन बना सकता है। कपास को रेशम तथा संगमरमर को सादी मिट्टी बना देना भी उसके बाएँ हाथ का खेल है। इतनी चमत्कृत बातों का दम भरने वाला कोई भारी ठाकुर अपने अंधभक्तों की संख्या कम नहीं देख सकता था। फिर भी वह अपने को मनुष्य जाति का एक कल्याण-कारक मात्र बताता। पेरिस नगर के सम्भ्रान्त लोगों की भीड़ उसके निकट टूटी पड़ती। बेचारा गैगलियोस्ट्रो लन्दन पहुँचने पर स्वयं ठगा-सा गया। पुलिस ने उसे जेल की हवा खिलाई, परन्तु इससे क्या होता है? किसी प्रकार वह छूट कर यूरोप पहुँचा। वहाँ उसकी ख्याति और भी बढ़ी। बड़ी ही तड़क-भड़क से दरबारियों, सामंतों, सम्भ्रान्त पुरुषों तथा चँवरधारियों की मंडली से घिर कर वह पोलैंड, रूस तथा जर्मनी की राजधानियों में आदरित होता। सारे यूरोप के सम्भ्रान्त परिवार इस प्रसिद्ध लोकोपकारक, प्राकृतिक चिकित्सक का स्वागत करते। ख्याति में कोई भी राजा-महाराजा उसकी तुलना नहीं कर सकता था।

ठाकुर बालसामो या गैगलियोस्ट्रो दम्पति जहाँ कहीं भी जाते, दर्शकों की इतनी भारी भीड़ एकत्र होती कि सरकारों को सेना बुलानी पड़ती। कदाचित् यह दुर्भाग्य ही था कि फ्रांस की राज्य-क्रान्ति हुई जिसने स्थिति बदल दी। अन्यथा गैगलियोस्ट्रो की कीर्ति न्यून नहीं होने पाती। किसी प्रकार उसको दुर्भाग्य ने घेरा। वह मेरी ऐंटियोनेटी का हीरे का हार चुराने के अपराध में पकड़ा गया। फिर भी उसके प्रतिष्ठित भक्तों ने मध्यस्थता कर उसे कारावास से छुड़ाया। फ्रान्स के अन्तिम राजा ने अपना मुकुट छीने जाने के पूर्व गैगलियोस्ट्रो को देश से बाहर हो जाने की आज्ञा दे दी थी। बेचारे गैगलियोस्ट्रो दम्पति एक देश से दूसरे देश को भगाये जाते रहे। अन्त में उन्हें अपने देश में रोम नगर की शरण लेनी पड़ी। वहाँ की सड़कों पर माजूम बेच-बेच कर दिन काटने पड़े। गैगलियोस्ट्रो ने अन्त में अपने को एक स्वतन्त्रधर्मी घोषित किया। इस पर ईसाई धर्म-संघ ने उसे जेल में डाल दिया। जेल में ही यूरोप की इतनी ख्याति प्राप्त करने वाला पुरुष बन्दी रूप में मृत हुआ। किसी को उसकी मृत्यु की चिन्ता भी नहीं हुई।

संज्ञाहर औषधियाँ

श्रम या थकावट दूर करने के लिए बहुतेरे लोग मादक या अर्द्धमादक द्रव्यों का सेवन करते हैं। पालकी ढोने वाले श्रमिक ताड़ी या मद्यपान किये बिना लम्बा मार्ग दूर करने में कदाचित् क्लेश का अनुभव करते हैं। स्त्रियाँ खेत निराने, छत कूटने, या चक्की से आटा पीसते समय गायन द्वारा ही श्रम को हल्का बना समझती हैं। इन बातों की वैज्ञानिकता क्या है, यह तो कहना कठिन ही है। कदाचित् हानिकर वस्तु भी केवल व्यसन होने के कारण ही ग्रहण करने में व्यक्ति को कुछ सुख-सा अनुभव होता है। उसके न मिलने से वह थकावट का अनुभव करता प्रतीत होता है। परन्तु वैज्ञानिक यही बताते हैं कि मादक वस्तुएँ स्वास्थ्य के लिए लाभकर कभी भी नहीं हो सकतीं। यह बात ठीक होते हुए भी आवश्यकतावश चिकित्सकों को मादक द्रव्यों का प्रयोग करना पड़ता है। सुश्रुत के समय में भी कदाचित् शल्यकर्म के क्लेश को अनुभव न होने देने के लिए शल्य-क्रिया के पूर्व मद्य पिलाया जाता था। आज भी हम अफीम के रूपान्तरित रूप मार्फिया का शरीर में टीका लगा कर किसी अंग को ज्ञानशून्य कर शल्यकर्म करने की विधिदेखते हैं। दन्तचिकित्सक मसूड़ों में मार्फिया को सुई से प्रविष्ट करा कर उन्हें सुन्न या संज्ञाशून्य कर सहज ही विकृत दाँत उखाड़ लेता है। रोगी को कुछ भी नहीं जान पड़ता।

पुराने समय में मादक या कुछ हल्के विषों द्वारा संज्ञाशून्यता

के कृत्य होते होंगे। आज हम भाँग का लोगों द्वारा प्रयोग देखते हैं। कहा जाता है कि मध्यकाल में इस्लाम धर्म के प्रचार करने वाले कुछ दल धर्मविरोधियों या काफिरों को धर्म-परिवर्तन स्वीकार न करने पर तलवार के घाट उतार देते थे। कदाचित् उन्हें ऐसा कठोर कार्य करने के लिए कुछ मादकता उत्पन्न करने के लिए भाँग का माजूम दिया जाता था। इसको शायद हशीश नाम दिया जाता था। अतएव जो जोशीले धर्मप्रचारक हशीश खाकर अपनी तलवार के बल पर धर्म स्वीकार कराने अन्यथा तलवार का आघात करने के लिए सन्नद्ध रहते, उन्हें हशीश के नाम पर ही शायद कोई नाम दिया जाता। कालान्तर में किसी का वध करने वाले या हत्यारे को व्यक्त करने के लिए हशीश खाने वालों के तुल्य ही बता कर शायद एसेसिन कहा जाने लगा। अँग्रेजी में हत्यारे के लिए एसेसिन शब्द शायद इसी तरह बना।

यदि उपरोक्त बात सही है तो उसे भाँग की मादकता का दुरुपयोग ही कहा जा सकता है। वही बात अफीम के सम्बन्ध में कही जा सकती है। अफीम तो बहुत पुरानी मादक वस्तु है। भाव प्रकाश में उसे खसफल क्षीर, आफूक तथा अहिफेनक पर्याय नामों से पुकारा गया है :—

उक्तं खसफलक्षीरमाफूकमहिफेनकम् ॥ २२० ॥

—भाव प्रकाश प्र० ५

यह खसफल पोस्त की डोंडी ही है। पोस्त के बीज को खसबीज और खाखसतिल नाम दिया गया है।

उच्यन्ते खसबीजानि ते खाखस तिला आदि ॥

खस या पोस्त को तिलभेद या खसतिल नाम दिया गया है। उसी की डोंडी को हरे रहते ही चीर-चीरकर रस बहाकर बाहर जम जाने दिया जाता है जिसे अफीम नाम दिया जाता है। यह एक

प्रकार से प्राकृतिक पदार्थ ही हुआ परन्तु इसका दुरुपयोग कर मनुष्य अपने धन और स्वास्थ्य को नष्ट करता सकुचाता नहीं था। भारत में इसका प्रचार यथेष्ट था ही, परन्तु चीन में तो एक प्रकार से अफीम खाना राष्ट्रीय व्यसन ही बन गया था। अँग्रेजों से चीनियों का बाक्सर युद्ध अफीम के ही प्रश्न पर हुआ था। यह हर्ष की ही बात है कि नयी दुर्बलता को अनुभव कर अफीम का प्रचार सर्वथा बंद कर दिया गया। हमारे देश में भी यह अत्यन्त नियंत्रित अवस्था में ही है। चिकित्सकों ने इस मादक द्रव्य से लाभ उठाने का प्रयत्न किया था। रोमन काल में शल्यचिकित्सक रोगी को मद्य के साथ ही अफीम या अन्य औषधियाँ संयुक्तकर संज्ञाहरण या मूर्च्छा उत्पन्न करने के लिए पिला देते थे जिससे शल्यकर्म के समय उसे कष्ट का अनुभव न हो। फाँसी के तख्ते पर लटकने वाले अपराधियों को भी वेदना का अनुभव कम होने के लिए दयार्द्र अधिकारी ऐसी मादक वस्तुएँ पिला देते थे। कदाचित सूली पर चढ़ने पर जब हजरत ईसा-मसीह वेदना से आर्त्तनाद करने लगे तो किसी दयार्द्र सैनिक ने उन्हें इसी प्रकार का कुछ मादक पेय पिलाकर उनकी वेदना कम करने का प्रयत्न किया था।

मानव कष्टों तथा वेदनाओं को दूर करने के लिए हम औषधियों का ही प्रयोग होने की बात नहीं सुनते प्रत्युत तान्त्रिक भी सम्मुख दिखाई पड़ते हैं जिनमें मेस्मर का नाम सम्मोहन विद्या के लिए संसार में प्रख्यात है। मेस्मर की कथा लिखकर 'पृष्ठों को स्याही से रंजित करना कोई उत्साहप्रद कार्य नहीं प्रतीत होता, परन्तु युग का वह भी एक रूप था, इसकी स्मृति कभी भूली नहीं जा सकती। कान्स्टैंस झील के निकट किसी गाँव में फ्रीडरिक ऐंटन मेस्मर नाम का कोई व्यक्ति १७३३ ई० में उत्पन्न हुआ था। वीयना में अध्ययन कर उसने चिकित्सक की उपाधि प्राप्त की तथा जान्तव चुम्बकत्व

का अध्ययन करने में कितने ही समय तक संलग्न रहा। एक दिन पेरिस नगरी में इसकी भव्य सम्मोहनशाला स्थापित दिखाई पड़ी। लोग इस देवमंदिर में प्रवेश पाने तथा इस देवमूर्ति का दर्शन करने टूट पड़ते। सड़कों पर स्थान नहीं मिलता। इस मंदिर का आराध्य देव निर्धारित समय पर चुपके से पिछली खिड़की से सम्मोहनशाला या अपने देव मंदिर में प्रवेश करता जिससे दर्शक मंडली उसे देखने की उत्सुकता में उसे भीड़ के मारे कुचल ही न दे। एक बार तो वह सचमुच दबकर नाली में लुढ़क भी गया। लोगों में कितनी अपार श्रद्धा थी! कोई लँगड़ा है। कोई लूला है। किसी को कुछ रोग है, किसी को कुछ व्याधि है। किसी को प्रसव-पीड़ा असह्य होने की आशंका है। आदि-आदि। कष्ट चाहे जैसा हो सब की चिकित्सा मेस्मर के जादू या सम्मोहन विद्या में थी। वह सम्मोहनशाला में मंच पर खड़े होकर ज्योंही हाथ हिलाता, चारों ओर घोर नीरवता छा जाती। वातावरण में निष्ठा, धार्मिक विश्वास का इतना प्रसार हो जाता कि कहीं तिनका भी नहीं हिलता। किंतु फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने आकर इस सम्मोहन आश्रम को उखाड़ दिया। मेस्मर कठिनाई से जान बचाकर भागा। उसके कितने ही मित्र-सहायक वध किये गए। मेस्मर भागकर शेष जीवन अज्ञात रूप में अपने ग्राम में व्यतीत कर मृत हुआ परन्तु उसका सम्मोहन अस्त्र मेस्मेरिज्म या मेस्मरवाद के नाम से जीवित ही रह गया। आज भी कितने लोग ऐसे हैं जो सम्मोहन विद्या में अटूट विश्वास करते हैं। उनको विज्ञान कौन-सा उपदेश दे!

कार्लाइल ने मेस्मर के संबंध में ठीक ही लिखा है :—

"कान्स्टैन्स नामक पुराने नगर के निकट बोडेंसी पुष्करिणी के तट पर उसे टहलते तथा विचारमग्न पड़ा रहने दो। क्योंकि इस प्रकार, इस विचित्रतम नवीन रूप में पुरातन तथ्य पुनः

प्रस्फुटित होता है कि मनुष्य वह वस्तु है जिसे हम विचित्र प्राणी तथा मनुष्य के ऊपर विचित्र शक्ति रखने वाला कहते हैं तथा सर्वांगतः उसमें ऐसा जीवन है तथा उसके चहुँधा ऐसा जगत है जैसे उसके शरीर-वैज्ञानिकों, स्नायु संस्थानों, भौतिकता तथा आधि-भौतिकता आदि के साथ विजयिनी विश्लेषण-शक्ति पूर्णतया सब नाम भी नहीं ले सकती; व्याख्या करनी तो दूर की ही बात रही। उसी में तन्त्रवादी भी सभी युगों में आ-आकर अपना अंश ग्रहण करते रहेंगे।"

तान्त्रिक सम्मोहन विद्या की बात जाने दीजिये परन्तु वैज्ञानिक सम्मोहन या संज्ञाहरण औषधियों का प्रयोग तो नवीन युग के चिकित्सा विज्ञान के लिए अपरिहार्य वस्तु ही हो गई है। उसका आधुनिक रूप में किस प्रकार अवतरण हुआ इस कथा को जानने के लिए हमें लार्ड सिम्पसन का परिचय प्राप्त करना चाहिए। कहा जाता है कि सिम्पसन के जन्म के समय उसकी माता को असह्य प्रसव-वेदना हुई थी। उसको होश सँभालने पर भर्त्सना या उलाहना की बातें सुननी पड़तीं, मानो नवजात शिशु अपनी जननी को हठात् वेदना पहुँचाने का कोई दोषी हो। यह तो प्रकृति का व्यापार हैं जिसमें निरीह शिशु कर ही क्या सकता है! उसे तो माता तथा प्रकृति दोनों को ही अनुकंपा होने पर ही भूमिष्ठ होने तथा संसार को देखने का अवसर प्राप्त हो सकता है। फिर भी निमित्त कारण ही सही, परन्तु सिम्पसन को बातें सुननी पड़तीं। वह सोचता कि क्या भावी माताओं के कष्ट को न्यून करने, प्रसव-वेदना को मिटाने का कोई उपाय संभव है।

क्लोरोफार्म एक दवा ज्ञात हुई जो मनुष्य में मूर्च्छा उत्पन्न कर सकती है। सिम्पसन ने पहले इस औषधि का प्रयोग कुत्ते पर किया। उसको सुँघा कर वह मूर्च्छित कर देता। घंटों के पश्चात् उसे पुनः

होश आता। एक बार सिम्पसन ने इस विचित्र औषधि का प्रयोग मित्रमंडली में करना चाहा। सब आमंत्रित किये गए। मेज सजा दी गई किन्तु भोजनशाला में विचित्र कांड हो गया। पाक-शास्त्री रसोइए बेहोश होकर लुढ़क पड़े। क्लोरोफार्म की शीशी पाकशाला में खुली पड़ी रह गई थी। उसका प्रभाव फैलने पर रसोइए मूर्च्छित हो पड़े। जब मित्र-मंडली आकर भोजन आदि से छुट्टी पा गई तो सब को क्लोरोफार्म के पात्र खोल कर सूँघने के लिए कहा गया। थोड़ी देर में ही सारी मंडली इधर-उधर लुढ़कती बेहोश हो गई। कई घंटों तक मधुर स्वप्न देखते रहने के पश्चात् उन सब की मूर्च्छा दूर हुई।

सिम्पसन ने क्लोरोफार्म को माताओं की प्रसवपीड़ा अनुभव न होने देने के लिए अच्छा अस्त्र समझा। उसका प्रयोग करने का जब उसने विचार प्रकट किया तो ईसाई धर्मसंघ का प्रबल कोप उबल पड़ा। सभी धर्म-प्रचारक, धर्माचार्य चिल्लाने लगे कि प्रसव-पीड़ा तो स्त्री का प्राकृतिक धर्म है। ईश्वरीय व्यवस्था में यह व्याघात घोर अपराध है। प्रसव-पीड़ा को दूर करने के लिए क्लोरोफार्म या किसी कृत्रिम औषधि का प्रयोग नास्तिकता तथा घोर अधार्मिकता है। सिम्पसन के वश की यह बात नहीं थी कि रूढ़िवादियों को विवेक प्रदान करता। निदान क्लोरोफार्म का प्रयोग कर लाभ उठाने से निरीह माताएँ वंचित रहने लगीं। इंग्लैंड की सम्राज्ञी विक्टोरिया का प्रसव काल आया। सम्राज्ञी कई संतान उत्पन्न कर चुकी थीं। परन्तु अवस्था अधिक होते जाने से उस बार उन्हें घोर प्रसव वेदना हो रही थी। उन्हें क्लोरोफार्म की बात ज्ञात हुई। ईसाई धर्मसंघ के विरोध की भी बात उन्हें सुना दी गई परन्तु उन्होंने तुरन्त सिम्पसन की बुलाहट की। क्लोरोफार्म का प्रयोग किया गया। ईसाई धर्म-समाज देख कर सन्न रह गया। जब

सम्राज्ञी इस उपचार से प्रसव-पीड़ा से बच सकती हैं तो जनसाधारण को क्लोरोफार्म के प्रयोग में क्या हिचक हो सकती थी। वैज्ञानिक पथ ने रूढ़िवादिता को इस प्रकार अन्त में पराजित कर दिखाया।

अमेरिका में विलियम ग्रीनमार्टन नाम का एक युवक चिकित्सक १८४६ ई० में अपने साझीदार होरेस वेल्स के साथ किसी रोगी का दाँत निकालने में पीड़ा न होने देने के लिए हँसाने वाली गैस का प्रयोग कर रहा था। दुर्भाग्यवश पहला रोगी मृत हो गया। इस दुर्घटना से उसके साझीदार का साहस तो टूट गया, परन्तु ग्रीनमार्टन ने किसी दूसरी अन्य वस्तु को संज्ञानाश के लिए प्रयुक्त करने का उद्योग किया। ईथर नामक द्रव उसके हाथ लगा। उसका प्रयोग कुत्ते पर कर उसने निरापद रूप से मूर्च्छा उत्पन्न होते देखा। कुछ अन्य जंतुओं पर भी प्रयोग में कोई बाधा या उपद्रव न होते देख उसने एक फेरीवाले विक्रेता का दाँत ईथर द्वारा मूर्च्छा उत्पन्न कर निकाला। पूछने पर यह ज्ञात हुआ कि रोगी को दाँत निकलवाने में कोई भी कष्ट नहीं हुआ। यह मार्टन की एक सफलता थी।

अपने प्रयोग का अन्य चिकित्सकों में प्रचार करने के लिए मार्टन ने शिकागो के एक प्रसिद्ध अस्पताल के मुख्य शल्य-चिकित्सक से सम्पर्क स्थापित किया तथा उसे ईथर के प्रभाव की बातें समझाने का प्रयत्न किया। उस शल्य-चिकित्सक ने इस नवीन संज्ञाहर या मूर्च्छोत्पादक औषधि के प्रयोग के लिए अपनी स्वीकृति दी। १६ अक्टूबर १८४६ को अस्पताल के एक रोगी की शल्यक्रिया में इस नवीन मूर्च्छोत्पादक औषधि की उपयोगिता परखने का निश्चय किया गया। सब कुछ तैयारी तो हो चुकी, परन्तु मार्टन अपने संज्ञाहर औषधि तैयार करने वाले उपकरण लेकर निर्धारित समय पर अस्पताल में न पहुँचा। उसका तैयार किया उपकरण बड़े बेमौके टूट गया था। किसी प्रकार उसे पुनः बना कर दौड़ते-दौड़ते वह

कुछ विलम्ब से पहुँच सका। रोगी पर इस संज्ञाहर औषधि का प्रयोग किया गया। उसे कुछ पता भी न चला और शल्यकर्म निर्विघ्न समाप्त हो गया। यह शल्यक्रिया में संज्ञाहर औषधि द्वारा वेदना अनुभव न होने देने का एक सुन्दर उदाहरण था। शल्य-विज्ञान जगत में इस पद्धति ने युगान्तर उपस्थित कर दिया। उसी वर्ष २१ दिसम्बर को इंगलैंड में लंदन के युनिवर्सिटी कालेज अस्पताल में संज्ञाहरण औषधि देकर पहला शल्यकर्म किया गया।

शल्य कर्म में रोगी के लिए ऐसी संज्ञाहरण औषधि होनी चाहिये जो उपयोग में सरल हो, सुरक्षित हो, उपयोग करने में क्लेशकर न हो, शल्य-चिकित्सक का शस्त्र चलने के समय उसमें मूर्च्छा उत्पन्न कर दे, परन्तु बाद में कोई कुप्रभाव न हो। मूर्च्छा उत्पन्न करने या पुन: चेतना उत्पन्न करने में कम से कम असुविधा हो। क्लोरोफार्म का जब उपयोग किया गया तो वह उस समय की एक बड़ी बात थी। कभी-कभी उसका बहुत शीघ्र प्रभाव हो जाता और कभी-कभी चिकित्सक के ज्ञात हुए बिना ही घातक अवस्था भी हो सकती थी। एक बात और भी थी जिसका अनुभव उन दिनों नहीं किया जा सका किन्तु आज उसके कुप्रभाव के स्पष्ट प्रमाण ज्ञात हैं। बहुत से रोगियों पर क्लोरोफार्म का प्रयोग करने से भयंकर परिणाम होता है। कुछ समय में यकृत पर इसका बड़ा बुरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। यकृत सिकुड़ कर छोटा तथा धुँधला हो जाता है। उसके गहरे-भूरे पित्त के रंग की जगह हल्का रंग हो जाता है जो उसके विक्षत होने का प्रमाण होता है। कुछ रोगियों के यकृत पर यह कुप्रभाव नहीं भी हो पाता परन्तु क्लोरोफार्म सुँघाने के पहले यह बात नहीं ज्ञात हो सकती कि अमुक रोगी के शरीर में यकृत पर वह कुप्रभाव उत्पन्न करेगा और अमुक रोगी के यकृत को अछूता ही छोड़ देगा। अतएव क्लोरोफार्म के प्रयोग से रोगी के

शरीर पर इस प्रकार का आजीवन दुष्परिणाम भयानक है किन्तु संज्ञाहर औषधियों के उत्तम रूप ज्ञात होने के पूर्व इसने भी अच्छा चमत्कार दिखाया। इसका स्थान ईथर ने लेकर शल्य-विज्ञान की बड़ी सहायता की। इसका शल्य-विज्ञान में प्रयोग करने का श्रेय मार्टन तथा लांग, दोनों ही व्यक्तियों या उनमें से किसी एक को दिया जाता है। किसने पहले यह प्रयोग किया और किसने पीछे किया, इन बातों के विवाद से हमें शल्य-विज्ञान में संज्ञाहर औषधियों की महत्ता का विकास समझने में कोई सहायता नहीं प्राप्त होती। हमें तो इतना ही जान लेना बस है कि इनके पूर्व वलेरियस कोर्डस नामक व्यक्ति ने तीन सौ वर्षों पहले द्रव ईथर नाम की वस्तु आविष्कृत की थी। उसको चिकित्सा-विज्ञान में उन दोनों व्यक्तियों में से किसी ने इतने समयों बाद प्रयुक्त किया किन्तु आज भी इससे अधिक उत्तम कोई अन्य संज्ञाहर औषधि नहीं ज्ञात हो सकी है जिसे आदर्श रूप का संज्ञाहर साधन कहा जा सके किन्तु कुछ थोड़ी विशेषता या उत्तमता वाली अन्य संज्ञाहर औषधियाँ अवश्य ज्ञात कर प्रयुक्त हो रही हैं जिन्हें जन-साधारण कभी भी केवल अपनी बुद्धि से प्रयुक्त नहीं कर सकता। भयानक हानि हो सकती है। वे तो विशेषज्ञों के हाथ प्रयुक्त होने वाली वस्तुएँ हैं। द्रव ईथर में भी कुछ दोष हैं। यह उड़नशील वस्तु है। अतएव फेफड़े का क्षोभ तथा मवाद उत्पन्न करता है। मिचली, वमन करने की इच्छा उत्पन्न करता है। इस कारण रोगी इसके प्रयोग से घबड़ाते हैं। बल्कि ऐसा भी होता है कि जो सयाने रोगी इसकी बात सोचकर पहले घबड़ा गये होते हैं, उन पर इस मानसिक वृत्ति के कारण इस संज्ञाहर औषधि के प्रयोग पर अधिक उग्र प्रतिक्रिया होती है। परन्तु अबोध बालकों पर प्रयोग करने से कोई प्रतिक्रिया नहीं देखी जाती। फिर भी यह व्यावहारिक तथा उत्तम संज्ञाहर औषधि है।

साधारण धात्रियाँ या नवसिखुए चिकित्सा-छात्र भी इसका बेधड़क प्रयोग कर लेते हैं।

अन्य संज्ञाहर औषधियों में नाइट्रस आक्साइड या हँसाने वाली गैस में यह दोष है कि इसमें ओषजन की मात्रा न्यून ही शरीर में पहुँचने दी जाती है जिससे बेहोशी आ सके। एथिलीनी को तो तुरन्त क्रियाशील तथा प्रभाव में सुखद पाया जाता है, परन्तु यह भारी विस्फोटक वस्तु है। साइक्लोप्रोपेन उतनी विस्फोटक भी नहीं और विशेषज्ञ के हाथों बड़ी ही सतर्कता से प्रयुक्त करने पर सबसे उत्तम संज्ञाहर औषधि है, इसमें बड़ी विशेषता यह है कि ज्ञानशून्यता उत्पन्न कर भी यह फेफड़े में यथेष्ट मात्रा में ओषजन जाने देती है। डी-विलीन नाम का एक विशेष प्रकार का ईथर भी निकला है जो एक या दो श्वास में ही मूर्च्छा उत्पन्न कर देता है। किन्तु इनमें से कोई भी आदर्श, निरापद संज्ञाहर नहीं है।

कोलतार से जहाँ सहस्रों विचित्र वस्तुएँ, रंग, सुगंधि, औषधियाँ आदि उत्पन्न होती हैं, वहाँ संज्ञाहर औषधियाँ भी बन सकी हैं। मद्यसार से भी 'अवर्टीन (ट्राइब्रो मैथानोल) नामक एक संज्ञाहर वस्तु निर्मित होती है। केवल जल में घोलकर इसे उदर के निम्न भाग में सुई द्वारा अंतर्प्रविष्ट (इंजेक्ट) कराया जाता है। इसका संज्ञाहर प्रभाव दो-ढाई घंटे तक रहता है। रोगी चुपचाप निद्रा में पड़ जाता है। उसे कुछ भी सुध-बुध नहीं रहती। अतएव शल्यकर्म की वेदना तनिक भी अनुभव नहीं होती। एक दोष अवश्य है कि जब एक बार इस तरह की कोई भी औषधि सुई द्वारा शरीर में अंतर्प्रविष्ट कर दी गई तब फिर उसकी प्रभाव-मात्रा नियंत्रित नहीं की जा सकती। प्रकृति भिन्न-भिन्न होती है। किसी पर किसी औषधि का न्यून प्रभाव होता है, तथा किसी पर अधिक प्रभाव

होता है। फिर भी इस औषधि का व्यापक रूप से प्रयोग कर लाभ उठाया जाता है।

मर्फिया को सुई द्वारा शरीर में प्रविष्ट कराने पर तो सुई के बाहर निकालने के पूर्व ही मूर्च्छा का प्रभाव प्रारम्भ हो जाता है। अतएव विशेष कष्टों की अवस्था, असह्य उदर पीड़ा आदि में इसका प्रयोग कर रोगी को शान्ति पहुँचाई जाती है।

पेंटोथल नाम की एक औषधि यथार्थ में बड़ा लम्बा नाम रखती है। थियोपेंटो बार्बिटल वैज्ञानिक नाम है परन्तु संक्षेप में उसे पेंटोथल कह लेते हैं। सोडियम लवण भी इसे कहा जाता है। इसका आविष्कार डा० लुण्डी ने मेयोक्लिनिक में किया। उसने सहस्रों रोगियों पर इसका प्रयोग कर सिद्ध किया कि यह निरापद औषधि है। जो शल्य कर्म बहुत लम्बे न हों तथा जिनके लिए बहुत गहरी मूर्च्छा उत्पन्न करने की आवश्यकता न हो उनमें पेंटोथल का प्रयोग व्यापक हो गया है। किसी फोड़े का मुँह खोलने, हड्डी बैठाने, आदि के लिए यह बड़ी उपयोगी है। कुछ चिकित्सक गंभीर शल्य कर्मों में भी इस संज्ञाहर औषधि का प्रयोग कर लेते हैं। इस औषधि में एक दोष है। श्वासक्रिया का अवरोध करती है। यदि कुछ अधिक मात्रा में दे दी जाय तो श्वासक्रिया बिल्कुल ही अवरुद्ध हो जाती है किन्तु हृदय की गति संचालित ही रहती है। रोगी जीवित रहता है किन्तु श्वास न आने से दर्शक को बड़ी घबड़ाहट हो सकती है। यह औषधि जीवन को अवरुद्ध नहीं करती, फिर भी इस निरापद औषधि का प्रयोग नागरिकों में उतना प्रचारित नहीं पाया जाता। सेना में इसे बेधड़क सभी रोगियों पर प्रयुक्त कर शल्यक्रिया को वेदनाशून्य बनाया जाता है। लगभग ८० प्रतिशत आहत सैनिकों के लिए गंभीर संज्ञाहर औषधि की आवश्यकता नहीं होती, तुरन्त क्रियाशील संज्ञाहर औषधि ही काम देती है।

संज्ञाशून्यता शीघ्र ही दूर भी की जा सकती है। अतएव यह सैनिक शल्यकर्मों में एक अत्यन्त उत्तम संज्ञाहर औषधि सिद्ध हुई है। युद्धस्थल में अन्य संज्ञाहर औषधियों का प्रयोग नहीं किया जाता। इसे ले जाना भी सुगम होता है। केवल इसके चूर्ण छोटी-छोटी नलियों में बंद होते हैं। दूसरी वस्तु निर्मल जल ही आवश्यक है। वह भी बंद नलियों में स्रवित रूप का रक्खा रहता है। बस सुई युक्त पिचकारी की देर होती है। सैनिक इसके प्रयोग से आमोद का ही अनुभव करता है। इस औषधि के आविष्कर्ता ने शल्य कर्म के लिए अनुपम सहायक साधन उत्पन्न कर कितना लोक-कल्याण किया है।

विकृतिशून्य शल्यक्रिया

उन्नीसवीं शताब्दी में लन्दन चिकित्सा विज्ञान के शल्यकर्म विभाग में संसार में सबसे प्रसिद्ध केन्द्र बन गया था। दूर-दूर देशों से शल्य विद्या के शिक्षार्थी इस नगर के अस्पतालों तथा शल्य-चिकित्सकों के पास कुछ सीखने, कुछ देखने-सुनने आते। इन अस्पतालों में कदाचित् शरीर विज्ञान की शिक्षा उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुँच रही थी, शल्यकर्म को अत्यन्त कुशल चिकित्सक (शल्य कर्मी) सम्पादित करते। रोगी-परिचर्या संसार भर से श्रेष्ठ थी। फिर भी शल्यक्रिया होने पर अर्द्ध संख्यक रोगी मृत ही हो जाते। उसका एक प्रधान कारण था। मानव के विकट शत्रु, यम की साक्षात् मूर्ति कीटाणुओं का मर्म नहीं खुल सका था तथा संज्ञाहरण औषधियाँ भी प्रस्तुत नहीं की जा सकी थीं। प्रत्येक शल्यकर्म चिकित्सक के लिए एक विशेष श्रमसाध्य तथा झंझटों का कार्य ही था। किसी प्रकार शीघ्र शल्यकर्म करना ही उसको कुछ सुविधाजनक बनाने का मार्ग था। इस स्थिति में सुधार करने के लिए दो प्रमुख कार्यों की आवश्यकता थी। एक तो संज्ञाहर औषधियों का ज्ञान, दूसरे कीटाणु विज्ञान का विकास।

कीटाणु विज्ञान का जन्म तथा विकास किस प्रकार ल्युवेनहुक, स्पेलैंज़नी, लुई पास्च्युर, राबर्ट काच, आदि ने किया, उसे कीटाणु विज्ञान की पुस्तकों में देखा जा सकता है। "जीने के लिए" "कीटाणुओं की कहानी" तथा "पेनिसिलिन की कहानी" तीन

पुस्तकें हमारी सरल विज्ञान पुस्तकमाला में निकल चुकी हैं जिनमें इनका वर्णन पढ़ने को मिल सकता है। ल्युवेनहुक तो हालैंड के एक ग्राम का साधारण व्यक्ति ही था जिसने अपनी अद्भुत लगन से सुन्दर सूक्ष्मदर्शक यन्त्र निर्माण करने में सफलता प्राप्त की थी। स्वनिर्मित सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा एक बूँद गँदले पानी में उसने



ल्युवेनहुक

कितने ही सूक्ष्म जन्तुओं को विद्यमान देखा था। वही कीटाणु विज्ञान का सूत्रपात कहा जा सकता है। लुई पास्च्युर तो एक रसायनवेत्ता ही था। परन्तु मद्य के व्यवसायियों, रेशम का कीड़ा

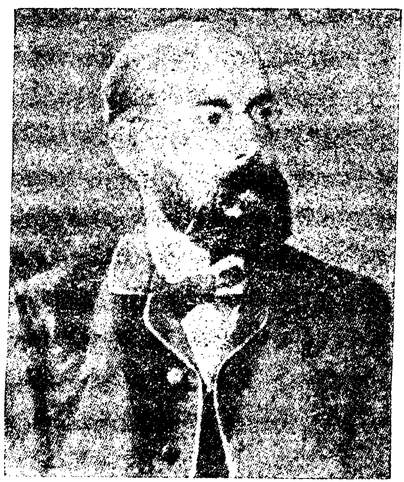
पालने वाले रोजगारियों ने अपने व्यवसायों में किसी कारण भारी हानि पहुँचने के कारण पास्च्युर की सहायता चाहीं थी। उन्हीं की



लुई पास्चुर

सहायता करने के प्रयत्न में उसने नूतन सत्य ज्ञात किया कि मदिरा में खमीर या किण्वीकरण एक प्रकार के कीटाणु की ही

क्रिया है। वैसे कीटाणु अपना अधिक प्रसार रखते हैं, यह बात तो दूसरी ही है। परन्तु उनके अभाव में मद्य बनने के लिए किण्वीकरण या खमीर बनने की क्रिया हो ही नहीं सकती। सिरके या आसव का निर्माण भी इन कीटाणुओं द्वारा ही होता है। कुछ दूसरे प्रकार के कीटाणु उत्पन्न होकर किण्वीकरण के इन कीटाणुओं का संहार करते हैं तो मद्य भ्रष्ट या कुस्वादु हो जाती है। एक निश्चित ताप-मान पर मद्य को गरम कर देने पर हानिकारक कीटाणुओं का प्रभाव नहीं होने पाता। ये कुछ प्रारंभिक बातें थीं। रेशम के कीड़ों पर भी कुछ कीटाणु प्रहार कर नष्ट करते। उन रोगग्रस्त कीड़ों को दूर कर देने से ही इस रोग से मुक्त अन्य कीड़े रेशम उत्पन्न कर सकते। राबर्ट काच ने इसी प्रकार कुछ अन्य उद्योग किये। उसने



राबर्ट कॉच

रोगों के अध्ययन के लिए, विशेष रोगों से ग्रस्त जानवरों, चूहों का

रक्त कीटाणुओं से प्रभावित देखा। एक विशेष प्रकार के रोग के कीटाणु को वह वृषभ के नेत्रों के श्वेत अर्द्ध द्रव में पोषित कर संख्या-वृद्धि करता। उसे किसी स्वस्थ जन्तु के शरीर में क्षत किए अंग पर प्रविष्ट कराने से उस विशेष रोग का प्रभाव उत्पन्न होता पाया जाता। इस प्रकार वह रोगों के उत्पन्न करने वाले कीटाणुओं का अध्ययन करता।

इन प्रारंभिक अध्ययनों ने जिस नवीन विज्ञान को प्रवर्तित किया उसकी महत्ता को आज भली-भाँति अनुभव किया जा सकता है। परन्तु शल्य चिकित्सा क्षेत्र में उस प्रारंभिक काल में ही लार्ड लिस्टर ने ज्ञान की इस नवीन धारा से जो लाभ उठाने का प्रयत्न किया वह शल्य-विज्ञान क्षेत्र में अत्यन्त युगान्तरकारी परिवर्तन उपस्थित करने वाली बात हुई। आज का शल्य-विज्ञान अपनी अद्भुत सफलता के लिए अवश्य ही कीटाणु विज्ञान के उन प्रारंभिक शोधकर्ताओं तथा कीटाणु विज्ञान की उन्नति का शल्यकर्मों में उपयोग करने के लिए लार्ड लिस्टर तथा उनके अनुवर्ती अन्य चिकित्सकों या शोधकर्ताओं का चिरऋणी है। स्वयं लार्ड लिस्टर ने शल्य चिकित्सा की भावी सफलताओं की कल्पना कर कीटाणु-शास्त्रियों की खोजों का जो उपकार माना था, वह विस्मृत करने योग्य नहीं है। लार्ड लिस्टर ने अपने शल्य-विज्ञान कृत्यों के सम्बन्ध में १८७४ ई० में फ्रांस के यशस्वी कीटाणुशास्त्री लुई पास्च्युर को जो इतिहास प्रसिद्ध पत्र लिखा था, उसका निम्न अंश स्वर्णाक्षरों में संरक्षित करने योग्य ही है:—

"मैं यह नहीं जानता कि अँग्रेजी शल्य चिकित्सा के आलेख आप तक पहुँचते हैं या नहीं। यदि वे पहुँचते हों तो आपने समय-समय पर व्रण-विकृति-नाशक चिकित्सा पद्धति की सूचनाएँ देखी

होंगी जिसे मैं सात वर्षों से पूर्णता की कोटि में लाने के लिए उद्योगशील रहा हूँ।

आपने अपनी उद्भट खोजों से किण्वीकरण (खमीर बनना) में कीटाणु सिद्धान्त का जो तथ्य मुझे व्यक्त कराया है और इस प्रकार मुझे वह सिद्धान्त हस्तगत कराया है जिसके बल पर व्रण-विकृति-संहारक सिद्धान्त आधारित हो सकता था, उसके लिए मुझे अपना प्रगाढ़तम धन्यवाद अर्पित करने का यह अवसर उपयोग करने दें। यदि आप कभी एडिनबरा आवें तो मुझे विश्वास है कि हमारे अस्पताल में आपको यह देख कर अपार हर्ष प्राप्त होगा कि आपके परिश्रम से मानवता को कितना लाभ पहुँच रहा है। मैं यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं समझता कि शल्य-विज्ञान आपके प्रति कितना ऋणी है। इसे आपको दिखाने में मुझे महानतम कृतज्ञता का अनुभव होगा। विज्ञान के एक साधारण प्रेमी होने के कारण मुझे इस स्वच्छन्द व्यवहार के लिए जो प्रेरणा मिलती है, उसे क्षमा करें।

आपका

जासेफ लिस्टर

जासेफ लिस्टर का जन्म १८२७ ई० में लंदन नगर में हुआ था। उसका पिता मद्य का व्यवसायी था। लिस्टर ने बी० ए० की उपाधि प्राप्त करने के पश्चात् चिकित्सा विज्ञान का अध्ययन प्रारंभ किया। छात्रावस्था में युनिवर्सिटी कालेज अस्पताल में उसने द्रव ईथर के संज्ञाहर औषधि रूप में प्रयोग का प्रथम दृश्य देखा। इंगलैंड में सर्वप्रथम ईथर द्वारा बेहोश कर शल्यक्रिया का यह पहला ही उदाहरण था जो हेनरी लिस्टन द्वारा सम्पादित हुआ था। हेनरी लिस्टन से लंदन में शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् जासेफ लिस्टर ने एडिनबरा में जाकर जेम्स साइम नामक शल्यचिकित्सक के अधीन कार्य सीखना

प्रारंभ किया। अपनी योग्यता से उसने गुरु को संतुष्ट करने में सफलता प्राप्त की। फलतः साइम ने अपनी पुत्री का विवाह लिस्टर से कर उसको शल्य-विज्ञान में उन्नति करने की प्रत्येक प्रकार से सहायता प्रदान की। लिस्टर ने अपने पिता को एक बार लिखा था :—

"मैं लिस्टन या साइम तो कभी बनने की आशा रख ही नहीं सकता, फिर भी मैं उन्नति करता जा रहा हूँ।"

लिस्टर की प्रतिभा, सतत् उद्योगशीलता तथा उसके श्वसुर जेम्स साइम की सहायता ने उसे १८६० में ग्लासगो में शल्य-विज्ञान के मुख्य शिक्षक का पद प्रदान कराया। वहीं पर लिस्टर को कीटाणुओं के प्रभाव से घावों को रक्षित कर अपनी विकृतिनाशी व्रण चिकित्सा पद्धति के प्रसार का अवसर प्राप्त हुआ। उन दिनों देश भर में अस्पतालों की दशा दयनीय थी। रोगी चीर-फाड़ के बाद अधिक संख्या में मरते। कोई संयुक्त चोट लगी होने पर जो अंग प्रभावित होता उसे काट फेंकना ही एक मात्र चिकित्सा थी। घावों से मवाद बहना शुभ लक्षण माना जाता। कभी स्वच्छता का ध्यान नहीं रखा जाता। आश्चर्य की बात है कि जब स्वच्छता रखने का आन्दोलन लिस्टर द्वारा प्रारंभ हुआ तो शल्य चिकित्सक तथा सहायक उसका तीव्र विरोध करते। धायें तो हड़ताल मचाने लगीं। आज हमें उस समय के एक दर्शक का सुझाव पढ़ने का अवसर मिलने पर कितनी हँसी छूट सकती है। उसने लिखा था कि 'कम से कम महीने भर में एक बार रोगी की चादरें उसकी प्रार्थना हुए बिना ही बदल दी जानी चाहिए।' एक रोगी की चीर-फाड़कर गंदे वस्त्रों के साथ ही शल्य चिकित्सक अन्य रोगियों के चिकित्सा भवन में पहुँच जाते। कहीं प्रसव कार्य में सहायता कर आते। घावों से निकाला मवाद पात्रों में पड़ा रहता। यह सब भयानक स्थितियाँ ही थीं। लिस्टर ने पहले-पहल यह अनुभव किया

की गंदगी, मवाद आदि कीटाणुओं के घर ही हैं। उसे दूर करने से ही रोगियों की मृत्यु-संख्या न्यून हो सकती है। फलतः कारबोलिक ऐसिड की कीटाणुनाशक शक्ति पर उसका ध्यान गया। उसी से सिंचित जाली या पट्टी घाव पर रखकर बाँधता। वायु में भी उसकी फुहार छुड़ाता। फर्श भी उससे सिंचित की जाती। प्रत्येक प्रकार से यह प्रयत्न किया जाता है कि घाव में कीटाणु रहने न पावें। उसकी इस सतर्कता का निश्चित परिणाम निकला। रोगियों की मृत्यु-संख्या न्यून होने लगी। शल्य कर्म की विभीषिका न्यून होने लगी। यह शल्य-विज्ञान में युगान्तर ही था।

लिस्टर की शल्यचिकित्सा विधि के पूर्व सेप्टिसीमिया, पायोमिया, हॉस्पिटल गैंगरीन आदि भयानक व्रण-विकृति रोग उत्पन्न होकर ५० प्रतिशत तक उन रोगियों की मृत्यु उपस्थित करते जिनका शल्य-कर्म किया जाता, उनकी मृत्यु संख्या में यथेष्ट न्यूनता हुई। संयुक्त आघात होने से जहाँ अंग काट ही फेंका जाता वहाँ लिस्टर ने अपनी विधि से उन रोगियों का अंग काट फेकने के स्थान पर विकृति दूर कर स्वस्थ रूप का अंग बनाने का प्रयत्न किया। परन्तु उसकी इस विधि से पूर्ण सफलता नहीं दिखाई पड़ी। प्रारंभ में ४३ प्रतिशत ऐसे रोगी ठीक हो जाते। जब उसने कुछ और भी सुधार किये तो अंग-छेदन क्रिया में ४३ प्रतिशत की जगह केवल १५ प्रतिशत मृत्यु होती।

लिस्टर ने यह बात बताई थी कि स्वच्छता ही घाव या शल्य कर्म में रोगी की प्राण रक्षा या स्वास्थ्यलाभ प्राप्त कराने का साधन है। इसके लिए वह शुद्ध कारबोलिक ही पट्टियों, पलास्टर आदि पर लगाता परन्तु बाद में उसने उसे कुछ हल्का बनाकर प्रयुक्त करना प्रारंभ किया। कारबोलिक की फुहार वायु में छोड़ने की भी आवश्यकता नहीं समझी गई। लिस्टर ने जो शल्यचिकित्सा विधि प्रवर्तित

की थी, वह विकृतिहारी चिकित्सा विधि कही जा सकती है। जब व्रण पर कीटाणुओं का प्रबल प्रहार हो गया तब उसकी रक्षा का यह साधन था किंतु उत्तम मार्ग तो वह था कि व्रण या शल्य कर्म के अंग पर कीटाणुओं का प्रहार ही होने से बचाया जाय, मवाद आने की स्थिति ही न होने दी जाय। जब चिकित्सकों ने इस प्रश्न का मर्म समझा तो इसकी भी विधि निकल आई।

कीटाणु हाथ या अस्त्र-शस्त्र, यंत्रों, पट्टियों आदि के सम्पर्क से तो घावों में फैल ही सकते हैं, शरीर के अंग पर भी वे विद्यमान रहते हैं तथा उपयुक्त अवसर पाकर त्वचा के आवरण के क्षत होने पर शरीर के अन्दर प्रविष्ट कर जाते हैं। इन सबसे बचने का यह उपाय किया गया कि ताप के प्रभाव से सभी वस्तुओं को शुद्ध किया जाय। सभी उपकरण खौलते पानी में उबाल लिए जाते किंतु खौलते पानी से भी उत्तम साधन दबाव में रक्खी भाप है जिसमें कोई भी कीटाणु जीवित नहीं रह सकता। अतएव आधुनिक काल में रुई, जाली, पट्टी, आदि सब कुछ दबाव में रक्खी भाप द्वारा शुद्ध कर लिए जाते हैं। हाथ को स्वच्छ कर भी हम उसे तौलिया में पोंछें तो तौलिया के माध्यम से हाथ में कीटाणु पहुँच सकते हैं।

अतएव स्वच्छता का आदर्श साधन रबड़ के दस्ताने प्रयुक्त करना है जो हाथ को व्रण या शरीर के शल्य कर्म वाले अंग के स्पर्श से बचाता है। अतएव सब प्रकार की सावधानी रखकर किसी भी घाव या शल्य कर्म के अंग को व्रणविकृति से शून्य रखकर उसे शीघ्र ठीक होने का अवसर दिया जाता है। अतएव व्रण की यथार्थ चिकित्सा कोई मरहम, जादूगरी की दवा या अन्य कोई भी चमत्कार नहीं है। बल्कि ऐसी स्वाभाविक स्थिति पैदा करना है जिसमें कीटाणु या विकृति का घाव पर प्रभाव नहीं हो पावे। ऐसी विधि ही विकृतिशून्य चिकित्सा पद्धति है।

लिस्टर ने जो चिकित्सा-विधि प्रचारित कर शल्य कम को एक उत्कृष्ट रूप प्रदान किया उसे देश-विदेशों में स्वीकृत किया गया किन्तु उसके अपने ही देश के प्रमुख नगर लंदन के चिकित्सालयों में हठधर्मी चिकित्सक समुदाय पुरानी लकीर ही पीटता जा रहा था। लिस्टर के श्वसुर की मृत्यु होने पर एडिनबरा में प्रमुख शल्य-चिकित्सक का पद ग्रहण कर उसने ये सफलताएँ प्राप्त की थीं किन्तु आठ वर्षों तक एडिनबरा में शल्य-विज्ञान की सेवा करने के पश्चात् लंदन के किंग्स कालेज में सर-विलियम फर्गुसन की मृत्यु पर प्रधान शल्य-चिकित्सक का पद रिक्त हुआ तो लिस्टर ने उस पद को ग्रहण किया। एडिनबरा के सहस्रों चिकित्सक-छात्रों ने उससे एडिनबरा में ही रहकर शिक्षण करते रहने की अभ्यर्थना की परन्तु लिस्टर तो अपनी नवीन शल्य-चिकित्सा विधि से सारी मानवता को लाभ पहुँचाने का इच्छुक था। अतएव अपने ही देश की प्रमुख लंदन नगरी में शल्य-विज्ञान की उन्नति कराने का अवसर प्राप्त होने पर वह पीछे नहीं हट सकता था। अतएव उसने लंदन अपना कार्य क्षेत्र बनाया। वहाँ पर लिस्टर के प्रयत्न से सभी शल्य-चिकित्सकों ने उसकी नवीन विधि की महत्ता स्वीकृत की और शल्य कर्म को एक उत्कृष्ट रूप प्रदान कराने में सहयोग प्रदान किया।

जब १८९२ ई० में लुई पास्च्युर का जन्म-दिवस मनाने के लिए सारे संसार के वैज्ञानिकों का समारोह हुआ तो लिस्टर भी वहाँ जाकर उपस्थित हुआ। उसी वर्ष लिस्टर ने प्रमुख शल्य-चिकित्सक के पद से त्यागपत्र दिया और शान्तिपूर्ण जीवन व्यतीत करने लगा। दूसरे वर्ष उसकी स्त्री का भी देहान्त हो गया। अन्त में अस्सी वर्ष की आयु में १९१२ में इसकी मृत्यु हुई किन्तु उस समय तक उसने शल्य-विज्ञान को एक उच्च पद प्राप्त करा दिया था।

आज का शल्य-विज्ञान

शल्य-विज्ञान की आधुनिक उन्नति के ज्वलंत उदाहरणों में युद्ध का शल्य-विज्ञान अपना विशेष ही स्थान रखता है। जब युद्ध स्थल में विपक्षी सेनाएँ एक दूसरे को विध्वंस करने के कोई उपाय नहीं उठा रखतीं, उस समय जितने अधिक मनुष्य हताहत होते हैं उस विभीषिका का चित्रण करना कठिन कार्य ही है। परन्तु जहाँ नर-संहार के साधनों को प्रबलतम बनाते जाने की होड़ लगी हो, वहाँ तो नर-संहार लीला और भी भयानक हो जाती है। आधुनिक युद्धों में एक से एक नये तथा घातक अस्त्रों ने उनका रूप अधिक लोमहर्षक ही बनाया है। किन्तु इन भयानक संहारक शक्तियों के साथ संघर्ष कर मनुष्य आहतों की रक्षा में कम प्रयत्नशील नहीं रहता। इस कल्याणकारी उद्योग में भारी सफलता भी प्राप्त होती है। आज हमें यह सुनकर घोर आश्चर्य हो सकता है कि युद्ध शल्य-विज्ञान ने ऐसा उत्कृष्ट उदाहरण हमारे सामने उपस्थित किया कि द्वितीय महायुद्ध में ९६% घायलों की सफलतापूर्वक चिकित्सा की जा सकी। ऐसे उदाहरण किसी भी युग में किसी भी देश में कभी सुनने को भी नहीं मिल सकते थे। ऐसी अभूतपूर्व सफलता का कारण संसार भर की प्रयोगशालाओं में अनुसंधान थे, परन्तु एक प्रयोगशाला विशेष महत्त्व की कही जा सकती है जिसका उद्भव युद्ध में आहतों के लिए स्पेन के गृहयुद्ध में किया गया था।

स्पेन का युद्ध ऐसे समय में हुआ जब संसार की बड़ी शक्तियाँ

युद्ध में संलग्न नहीं थीं। एक महायुद्ध समाप्त हुए दस वर्ष हो रहे थे। दूसरे महायुद्ध की अभी कोई बात ही नहीं थी। परन्तु यह छोटा युद्ध कदाचित् नये महायुद्ध के लिए विकट अस्त्र-शस्त्रों के प्रहार और साथ ही युद्ध-स्थल में बहुसंख्यक आहतों की रक्षा के साधन का अनुभव करने के लिए एक प्रयोग-सा था। स्पेन के इस युद्ध में शल्य-चिकित्सा की जो सुन्दर नवीन व्यवस्था देखी गई, वह द्वितीय महायुद्ध के लिए घायलों की चिकित्सा के लिए बहुत ही उत्तम उदाहरण का कार्य कर सकी। जब प्राचीन काल में गोली, बारूदों की चोट लगती थी जो आहत का बुरा हाल होता था। गोली से विद्ध अंग को भयानक विकृत समझ कर काटकर फेंक दिया जाता था। किन्तु बाद में स्थिति बदली। उनकी चिकित्सा की जाने लगी। इन आहतों में अपेक्षाकृत भयानक तथा न्यून संकट के रोगी हो सकते हैं। युद्ध स्थलों में जहाँ भीषण गोलों की वर्षा हो रही हैं, अस्त्र-शस्त्र चल रहे हैं, आगे बढ़ने या पीछे हटने की ही चिन्ता होती है, वहाँ समर भूमि में धराशायी सैनिकों की बात कौन पूछे। परन्तु कहा जाता है कि प्राचीन काल में धर्म युद्ध होता था। दिन भर सूर्य के उदय तथा अस्त होने की अवधि में अस्त्र-शस्त्र चलते परन्तु रात्रिकाल को किसी भी शत्रु पर प्रहार करना निषिद्ध था। इस तरह का उदाहरण आधुनिक युग में देखने का तो अवसर नहीं है, परन्तु आहतों की चिकित्सा तथा हतों (मृतों) की समाधि-क्रिया के लिए अवसर अवश्य प्राप्त होता है। ईसा की सूली के नमूने पर लाल खड़ी और आड़ी रेखा मध्य में एक दूसरे को काटती हुई गाड़ियों, वायुयानों, आदि पर चिन्हित रहती है। यह लाल क्रास सेवा का प्रतीक होता है। अन्तर्राष्ट्रीय नियम है कि इन चिन्हों युक्त वाहनों या व्यक्तियों पर प्रहार न किया जाय। वे सेवादल के ही अंग हैं। परन्तु ऐसे नियमों की अवहेलना करने के भी शतशः

उदाहरण पाये जाते हैं। स्पेन के युद्ध में भी उन अन्तर्राष्ट्रीय नियमों की सुविधा के कारण आहतों को उठाकर चिकित्सा का प्रबन्ध किया जाता। कठिनाई यह होती है कि मोर्चे से अधिक पीछे कहीं अस्पताल होते हैं। वहाँ तक पहुँचते-पहुँचते बहुत अधिक समय लग सकता है। अतएव यदि चोट भयानक है तो रोगी अस्पताल तक पहुँचते-पहुँचते ही विषम स्थिति में होकर मृत हो सकता है। परन्तु बहुत से ऐसे घायल भी हो सकते हैं जिनकी चिकित्सा कुछ विलंब से भी हो तो उन्हें बचाया.जा सकता है।

स्पेन के चिकित्सकों ने इस स्थिति में बिल्कुल मोर्चे के ही निकट किसी छोटे-मोटे सुरक्षित स्थल, खोह आदि में बिल्कुल छोटा किन्तु सब प्रकार के शल्य-चिकित्सा उपकरणों से पूर्ण अस्पताल खोला, जहाँ आहतों की तुरन्त मरहम-पट्टी की व्यवस्था हो सकती। अब यदि सभी आहत यहाँ पर ही भरती कर लिए जायँ तो एक की भी चिकित्सा न हो सके। सीमित स्थान तथा उपकरणों की भारी बाधा थी। अतएव एक नयी बात की गई। एक कुशल शल्य-चिकित्सक मोर्चे में नियुक्त किया गया। वह आहतों को देख कर वहीं उनका वर्गीकरण कर निश्चित करता कि किनकी अवस्था विशेष गंभीर है और मोर्चे के छोटे अस्पताल में चिकित्सा योग्य है तथा किनको पीछे के बड़े अस्पताल में भेजना निरापद है। एक प्रकार से चिकित्सा की मुख्य कुंजी इस निर्णायक चिकित्सक पर रहती। इस विधि से आहतों की बड़ी सुन्दर चिकित्सा की जा सकी। इसी प्रयोग को द्वितीय महायुद्ध में दुहराने ही का परिणाम था कि अस्पतालों में पहुँच सकने वाले घायलों में से ९६% की रक्षा संभव हो सकी।

डा० डी० हारकोर्ट ने ब्रिटिश मेडिकल जर्नल में अस्थिभंजन के गंभीर आघातों से ग्रस्त पाँच सहस्र रोगियों की चिकित्सा का वर्णन किया था जो स्पेन की रणभूमि में स्पेन के मुख्य युद्ध-चिकित्साध्यक्ष

डा० ट्रुएटा के निर्देश से अस्पतालों में अच्छे किये गये। इन सामरिक अस्पतालों में पाँच सहस्र ऐसे रोगियों की शल्य-चिकित्सा होने पर केवल ३७ की मृत्यु हुई। इन रोगियों में कितने मिश्रित या संयुक्त आघातों वाले भी थे। इस प्रकार अस्पताल में कुल भरती हुए रोगियों में से केवल एक प्रतिशत का तीन-चौथाई ही मृत्यु-संख्या हुई।

समर भूमि में अनेक भयानक आघात होते हैं। उन आघातों में कीटाणुओं द्वारा विकृति उत्पन्न हो जाती है। जान हापकिंस अस्पताल के वेल्च नामक एक डाक्टर ने एक भयानक कीटाणु का पता लगाया था जो "वेल्च" कीटाणु नाम से ही प्रसिद्ध हो गया है। यह दंड या छड़ की तरह लम्बे आकार का (बैसिलस) कीटाणु होता है। यह कीटाणु खुली हवा के ओषजन में जीवन धारण नहीं कर सकता। जिस प्रकार मछली पानी के अन्दर से ही ओषजन ग्रहण कर जीवित रह सकती है किन्तु बाहर खुली हवा में मृत हो जाती है, उसी प्रकार बन्द स्थल की ओषजन में तो बेल्च दंडांगी कीटाणु जीवित रहता है, परन्तु खुले स्थान में मृत हो जाता है। एक बार शरीर में स्थान ग्रहण करने का सुभीता होने पर इसे अधिक से अधिक गहराई में शरीर का नाश करते देखा जाता है। अपना दृढ़ आसन जमा लेने पर यह कीटाणु किसी विधि से पिंड नहीं छोड़ सकता। समर भूमि में मिट्टी में यह पड़ा रहता है। घाव में मिट्टी का संयोग होने से यह उसके अन्दर प्रविष्ट कर संख्या-वृद्धि करता है। यदि ४-५ घंटे के अन्दर ही इसके द्वारा मुर्दा बनाये मांस, चमड़े आदि को काटकर फेंक न दिया जाय तो फिर यह प्राण ही लेकर छोड़ता है। अतएव युद्ध के मोर्चे पर के अस्पतालों में इन भयानक रोगों की यथेष्ट चिकित्सा का प्रबन्ध कर प्राण रक्षा की जा सकती। स्पेन के युद्ध में अग्रिम पंक्ति के निकट स्थित अस्पतालों

ने ऐसे रोगियों की चिकित्सा का समुचित प्रबन्ध किया। स्पेन में इस तरह के जो प्रयोग हुए थे, उनका श्रीगणेश तो प्रथम महायुद्ध के अंतिम दिनों में होने लगा था, परन्तु महायुद्ध शीघ्र समाप्त हो जाने से वैसे प्रयोग अधिक बढ़ाये न जा सके। उनके ठीक प्रयोग का अवसर स्पेन में मिला।

गैस गैंगरीन वह भयानक रोग है जिसे बन्द स्थान के ओषजन पर ही जीवित रहने वाले कीटाणु उत्पन्न करते हैं। इनको बद्ध ओषजन-जीवी कीटाणु कहा जाता है। वेल्च के नाम से प्रसिद्ध दंडांगी कीटाणु ये ही होते हैं। शरीर पर एक दृढ़ खोल जमा कर ये उच्च तापमान का भी सामना कर सकते हैं। ये कीटाणु पशुओं के मल द्वारा खेतों में फैलते हैं। जहाँ कृषि कम होती है वहाँ भी इन्हें कुछ न कुछ फैला पाया ही जाता है। उत्तरी अफ्रीका में मिस्र तथा लिबिया की ऊसर भूमि या मरुस्थली में सैनिकों के घावों में से ३० प्रतिशत ऐसे कीटाणुओं द्वारा प्रभावित सिद्ध हुए, परन्तु सैनिकों के पहनावे की जाँच करने पर इन रोगों के कीटाणु वर्दियों में ही मौजूद मिले। इनका प्रहार पैर के घावों में भयानक होता है। ऊपर से घाव भर-सा जाता है, परन्तु भीतर जीवित तन्तु नष्ट होते रहते हैं। ऊपर की ओर एक प्रकार की गैस निकल बाहर होने लगती है, इसीलिए इस भयानक रोग को गैस गैंगरीन कहते हैं। कुशल यही है कि तुरन्त ही ऐसी स्थिति नहीं हो जाती। बल्कि भीतरी भाग तक कीटाणु के पहुँचने और ऐसी अवस्था उत्पन्न करने में कुछ समय लग जाता है। अतएव पहले ही चिकित्सा करना कल्याणकारी होता है।

घाव के ऊपर प्लास्टर आफ पेरिस की पट्टी बाँध कर जल सिंचित कर देने से एक प्रस्तर सदृश दृढ़ आवरण बन जाता है। ट्रूएटा के

अधीन शल्य चिकित्सकों ने शल्यकर्म के बाद ऐसी पट्टी चढ़ा कर घाव बन्द कर भी गैस गैंगरीन के रोगियों को अच्छा किया।

सल्फा औषधियों और पेनिसिलिन, स्ट्रेप्टोमाइसीन आदि के अनुसंधान ने शल्य-विज्ञान में जो उन्नति कर दिखाई है, वह अब युद्ध क्षेत्र की ही बात नहीं रह गई है। आज तो संसार भर में इनका प्रयोग कर लाभ उठाया जा रहा है। सल्फा औषधियाँ कोलतार से प्राप्त एक पदार्थ को ही भिन्न-भिन्न रूपों में परिवर्तित कर बनती है। यह पदार्थ सल्फानिलामाइड है। इस प्रकार की एक से एक उत्तम प्रबल गुणकारी औषधियाँ शरीर की विकृति दूर करने में बड़ा यश अर्जित कर सकी हैं। प्रसव के समय जनन अंग के क्षत-विक्षत होने पर शल्य क्रिया या आघात की ही अवस्था पहुँची होती है। धात्री या चिकित्सक के हाथ से कीटाणु पहुँच कर प्रसूति ज्वर नामक भयानक रोग उत्पन्न करते हैं। इसका सल्फा औषधियों द्वारा सहज शमन किया जाता है।

मस्तिष्क की झिल्लियों में प्रदाह उत्पन्न कर मेनिंगाइटीज (मस्तिष्क-आवरण प्रदाह) रोग घातक सिद्ध होता है। पहले यह साधारण लक्षणों से ही शरीर में प्रारम्भ होता है। उसका प्रभाव जब तक मस्तिष्क-आवरण तक न पहुँचे, चिकित्सा करना साध्य होता है। ऐसे रोग का प्रचार भयानक होता है। अमेरिका में १९४३ में वायुयान सेना के लिए रँगरूटों के एक बड़े केन्द्र में नवागंतुक रँगरूटों के कारण यह रोग संक्रामक रूप धारण करता दिखाई पड़ा। अधिकारियों ने बहुत विचार कर सल्फा औषधियाँ सामूहिक रूप से प्रयोग करने का निश्चय किया। १८००० सैनिकों को निरंतर सल्फा औषधि प्रति व्यक्ति अठारह ग्राम तक अठारह घंटों के बीच दी गई। इस रोग का प्रसार रुक गया किन्तु इसका यह अर्थ नहीं हुआ कि चाय-पानी की तरह नित्य आँख मूद कर

सल्फा औषधियों का सब को अनिवार्यत: प्रयोग करना उचित है। वास्तव में इसके प्रयोग के सीमित क्षेत्र हैं। उसे विशेषज्ञ ही निश्चित कर सकता है।

पेनिसिलिन का वर्णन मेरी पुस्तक 'पेनिसिलिन की कहानी' में पढ़ने को मिल सकता है। फ्लेमिंग ने यह पदार्थ संसार को सुलभ कर अक्षय कीर्ति लाभ की। कीटाणु या सूक्ष्मदर्शकीय प्राणियों में एक दूसरे के संहार का उपकरण पाया जाता है। यह विशेष सूक्ष्म-दर्शकीय प्राणी में विशेष रूप का रासायनिक पदार्थ होता है। 'दहिया' एक सूक्ष्मदर्शकीय प्राणी होता है। उसी की पेनिसिलियम नोटेटम नाम की जाति द्वारा जो रासायनिक रस उत्पन्न होता है। वह उन बहुसंख्यक कीटाणुओं का संहार कर सकता है जो हमारे शरीर में अनेक भयानक रोग या व्रण-विकृति उत्पन्न करते हैं। वह रस दहिया रूपी सूक्ष्मदर्शकीय प्राणी का उत्पन्न किया मधु या अमृत उनकी रक्षा का एक स्वाभाविक अस्त्र ही होता है जिसे मनुष्य बरबस छीन कर या भारी मात्रा में उत्पन्न कराकर भयानक रोगों के प्रभाव से रक्षा पाता है। अतएव इसे उत्कृष्टतम रूप की प्राकृतिक औषधि या औषधि रूप का अमृत कहा जा सकता है, किन्तु बहुत से रोग के कीटाणुओं पर इसका प्रभाव नहीं होता। उदाहरणार्थ क्षय, इनफ्ल्युएंजा आदि। स्ट्रेप्टोमाइसीन या अन्य रासायनिक रस इसी प्रकार उत्पन्न होते हैं जो अन्य रोगों में हमारी सहायता करते हैं।

जब शरीर में कीटाणुओं का इतना अधिक प्रकोप हो गया हो कि रक्त में भी वे पहुँच गए हों तो उनका यह प्रभाव भयानक विकृति उत्पन्न कर सूजन, ज्वर आदि भी उत्पन्न कर देता है। ऐसी अवस्था में पेनिसिलिन की सुई लगवाना रक्षा का उत्तम साधन होता है। युद्ध के भयानक आघातों में रोगियों की रक्षा करने में पेनिसिलिन ने जो सहायता पहुँचाई है, वह वर्णनातीत है।

विकृति से रक्षा पाने की इन विलक्षण औषधियों, संज्ञाहरण या बेहोशी के लिए उपयुक्त पदार्थों तथा शल्यकर्म की कुशलता के अतिरिक्त अन्य बहुतेरे वैज्ञानिक साधनों ने आज के शल्यकर्म को जितना उच्च पद प्राप्त कराया है उनका उल्लेख बहुत अधिक स्थान घेर सकता है तथा उनकी विशेष चर्चा विशेषज्ञ ही कर सकते हैं। आज का शल्यकर्मी हृदय सरीखे मर्मस्थल पर भी छुरा चला कर विजातीय पदार्थ काट फेंक कर हृदय की दीवाल पर पेवंद लगाने में समर्थ हो सकता है। हृदय की मंद से मंद गति जान सकने के लिए पुराने ढंग के उरोवीक्षण (स्टेथेस्कोप) से आज काम नहीं चलता। आज तो विद्युताणु-शक्ति से प्रचालित सूक्ष्म गति-दर्शक यंत्र शल्य चिकित्सक को सूक्ष्म से सूक्ष्म गतिविधियों का परिचय कराते रहते हैं। प्रकाश के लिए वह ऐसी व्यवस्था पाता है जिसमें न तो कोई चमक दिखाई पड़े और न तनिक भी परछाईं पड़े।

रक्त बंकों की बात हमें सर्वत्र सुनने को मिलती है। रक्त के गुण-दोष की परीक्षा कर शल्य चिकित्सक किसी स्थल पर स्वस्थ पुरुषों द्वारा रक्त ग्रहण कर संचित कर लेता है। रासायनिक विशेषज्ञों की सहायता से वह रक्त में कुछ मिश्रण कर जमने देने से रोक रखता है। किसी रोगी की दुर्बल अवस्था में रक्त की भारी न्यूनता होने पर यह संचित रक्त तुरन्त ही शरीर में पहुँचा कर उस को बल प्रदान कराया जा सकता है जिससे स्वयं रक्त की यथेष्ट मात्रा बना सकने की शक्ति प्राप्त होने तक वह अपनी धमनियों में रक्त प्रवाहित रख सके।

एक्सकिरण यंत्र से छिपी ठोस वस्तु भी किसी पर्दे या आवरण के नीचे से दिखाई पड़ जाती है। आघात लगने पर ऊपर के त्वचा तथा मांस के आवरण को हटाये बिना ही एक्स किरण यंत्र हमें अस्थि-भंजन या अन्य रूप की गड़बड़ी को व्यक्त करा देता

है। अतएव ठीक स्थान पर उपयुक्त शल्यकर्म किया जा सकता है। मस्तिष्क के अन्दर भी छुरा पहुँचा कर विकृत अंग बाहर कर देना तथा मानसिक विकृति दूर करना आज के शल्यकर्मी का ही कार्य है।

विकृति से वंचित रखने के लिए यन्त्रों, पट्टियों आदि को दबाव के भाप में निर्मल कर भी शल्य चिकित्सक सन्तोष नहीं करता, बल्कि हाथ में विकृतशून्य रबर के दस्ताने पहन कर ही शल्यकर्म में हाथ लगा कर घावों को सर्वथा निरापद करने का प्रयत्न करता है। इन सब आविष्कारों का अन्त हुआ नहीं कहा जा सकता। संसार की प्रयोगशालाओं में भिन्न-भिन्न पक्षों पर अनुसंधान में संलग्न शोधकर्ता शल्य-विज्ञान को आदर्श स्थिति तक पहुँचाने के अथक उद्योग में निरन्तर संलग्न दिखाई पड़ते हैं।

स्नायु संस्थान, हृदय तथा फुफ्फुस आदि की शल्य क्रिया आज के शल्य-विज्ञान का ही चमत्कार कहा जा सकता है। इन क्षेत्रों में कितनी अधिक कुशलता प्राप्त की जा चुकी है, इनका थोड़ा वर्णन भी विस्मयपूर्ण है। स्नायु संस्थान की शल्य क्रिया में सर विक्टर होर्सले तथा मैकइवेन नामक वैज्ञानिक सर्वप्रथम थे। १८८७ ई० में एक रोगी के पैरों में लकवा का प्रभाव होने पर सर होर्सले ने पृष्ठवंश के ऊर्धो भाग में से एक अर्बुद (मसा) काट फेंक कर रोगी को स्वस्थ किया था। यह स्नायु संस्थान का प्रथम शल्य कर्म कहा जा सकता है। उसने स्नायुओं की स्थिति का भी ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त किया। पाल बोका नाम के फ्रांसीसी डाक्टर ने मस्तिष्क के विभिन्न अवयवों के कार्य का ज्ञान प्राप्त किया। आज एक्सकिरण से मस्तिष्क के अन्दर किसी विकृति का ठीक-ठीक रूप तथा स्थान ज्ञात कर विद्युत यंत्र से कपाल-भेदन क्रिया कर मस्तिष्क के विकृत अंग, मवाद आदि को सूक्ष्म आरियों, रुखानियों आदि से काट फेंका

जाना सम्भव है जिसमें रोगी को तनिक भी कष्ट नहीं होता। परन्तु ऐसे शल्य कर्म आठ-दस घंटे में समाप्त होते हैं। यही नहीं, यदि मस्तिष्क के स्नायु अत्यन्त क्षत-विक्षत हो गए हों तो भग्न स्नायुओं के दो खंडों के सिरे जोड़ दिये जाते हैं या पूर्णतया नया स्नायु ही स्थापित कर दिया जाता है। या कभी भविष्य में प्रयुक्त होने के लिए स्नायु को पृथक् सुरक्षित भी रक्खा जा सकता है। स्नायुओं में भी पेंवंद लगा सकने की क्रिया अद्भुत ही है।

एक स्नायु का तीन फाँकों का गुट्ट कठोर शिर पीड़ा का कारण होता है। जर्मन शल्य चिकित्सक ने इस त्रिफंकीय स्नायु को पृथक् करने की युक्ति की। एक अमेरिकन शल्य चिकित्सक हार्टले ने इसे जड़-मूल से ही काट फेकने की परिष्कृत विधि निकाली। आज इनकी संयुक्त विधि इस रोग को शल्य कर्म द्वारा दूर करने में प्रसिद्ध है। स्नायुसंस्थान की एक स्नायु मूत्राशय गर्भाशय तथा बृहद् अंत्र में शूल का कारण होती है। शल्य चिकित्सकों ने उस स्नायु को ज्ञात कर इन शूलों से बचने के लिए उसे शल्य कर्म द्वारा काट फेकने की विधि निकाली है।

वक्षस्थल की शल्य क्रिया और भी अद्भुत है। क्षयरोग में फुफ्फुस के प्रभावित होने पर भ्रष्ट अंश को दबाकर निष्क्रिय कर देने की विधि जर्मनी के प्रसिद्ध शल्य चिकित्सक फर्डिनेंड साएर ब्रुच ने निकाली। इस अद्भुत शल्य चिकित्सक की कुशलता का आज क्षय रोग की चिकित्सा में प्रयोग सर्वत्र प्रचार पा सका है। यही नहीं, १६३१ ई० फर्डिनेंड साएरब्रुच के सहायक शल्य चिकित्सक निस्सेन ने एक रोगी का फुफ्फुस पूर्णतया निकाल बाहर कर दिया और रोगी जीवित ही रहा। ऐसे उदाहरण से प्रोत्साहित होकर संसार के शल्य चिकित्सकों ने फुफ्फुस की शल्य क्रिया में सफलता प्राप्त की। फुफ्फुस के आवरण पर व्रण होने पर आज का शल्य चिकित्सक

वक्षस्थल विद्धकर यंत्रों को प्रभावित भाग.में पहुँचा कर विजातीय द्रव्य निकाल बाहर करता है, दूषित अंश काटकर पृथक् कर देता है। गले में कोई वस्तु निकालने के लिए उरोदर्शक यंत्र आविष्कृत हुआ है उसमें विद्युत् प्रकाश भीतरी भाग में एक नलिका के अंदर उत्पन्न करने की व्यवस्था होती है। किसी सिक्के या धातु के खंड निगले होने पर इस नलिका के प्रकाश से उसका ज्ञान प्राप्त किया जाता है तथा चिमटी यंत्र से उसे बाहर निकाला जा सकता है।

रक्तवाहिनी में रक्त जमकर थक्का बना देने का एक रोग हो जाता है जो बड़े शल्य कर्मों के पश्चात् प्रायः उभड़ता है। उसके द्वारा रक्त का मार्ग अवरुद्ध होने से दस मिनट के अन्दर ही रोगी की मृत्यु हो जाती है। सन् १६०७ में ट्रेंडेलेनबर्ग नामक शल्यचिकित्सक ने मुख्य धमनी की शल्य क्रिया करने का विचार व्यक्त किया। जब दस मिनट में मृत्यु अवश्यभावी है तो उस रोग का लक्षण ज्ञात होने पर मिनटों में ही यह शल्य कर्म समाप्त होना चाहिए। ट्रेंडेलेनबर्ग ने पहले बछड़े पर ऐसे शल्य कर्म का प्रयोग किया। वह जीवित बचा लिया गया। फिर शल्य कर्म में तीव्र वेग और कुशलता प्राप्त करने के लिए उसने मुर्दों पर शल्य कर्म के बार-बार उद्योग किये। अभ्यास द्वारा वह ऐसे शल्य कर्म चार मिनट में ही समाप्त कर सकने में समर्थ हो सका। इस अद्भुत चिकित्सा से एक प्रकार से मृत्यु के मुख से ही रोगी निकाला जाता है। ऐसे शल्य कर्मों में ट्रेंडेलेनबर्ग तो प्रथम रोगी की मृत्यु ही देख सका, अन्य रोगी भी दो-चार दिन ही जी सके, परंतु इस विधि से जीवन .की आशा बँधी। १६२४ में प्रोफेसर किशनर ने एक रोगी का शल्य कर्म कर दिखाया जो पूर्ण स्वस्थ होकर जीवित बना रहा।

हृदय के क्षत होने पर उसके फटे भाग की सिलाई करने का प्रयत्न ग्विडोफैरिना नाम के इटालीय शल्य वैज्ञानिक ने सन् १८६६

में किया। दुर्भाग्यवश इस प्रारंभिक प्रयत्न में रोगी तो मृत हो गया, परन्तु उद्योग जारी रहा। जर्मन शल्य चिकित्सक रेन ने एक ऐसा शल्य कर्म सफलतापूर्वक कर दिखाया। उसके पश्चात् इस विधि का अन्य शल्य कर्मियों ने भी प्रयोग किया।

एक रोग वृद्धावस्था के कारण हृदय का पोषण करने वाली रक्तनलिका को स्थूल बनाकर निष्क्रिय कर देता है। हृदय अशक्त होकर जीवन-क्रिया-विहीन होकर मृत्यु उपस्थित करता है, शल्य कर्मियों ने इस रोग में भी कुशलतापूर्वक शल्य कर्म किया। स्थूल बनी नलिका को क्रियाशील करने के लिए एक उपाय किया गया। वक्षस्थल की मांसपेशी काट कर उस स्थल पर हृदय में पेवंद लगाया गया। हृदय पुनः अधिक क्रियाशील बनाया जा सका। यह प्रकृति के शिथिल पड़ जाने पर भी नवजीवन प्रदान करने की मनुष्य की प्रत्यक्ष सफलता थी। फ्रांस के दो शल्य चिकित्सकों, लेरिच तथा फोंटेने ने पहले कुत्ते के हृदय में ऐसा पेवंद लगाकर अपनी कुशलता की परीक्षा की। उन उद्योगों में उन्हें सफलता हुई। बेक नामक शल्य कर्मी ने मनुष्य पर भी ऐसे शल्य कर्म को सफलतापूर्वक कर दिखाया। नौ रोगियों का शल्य कर्म करने पर छः रोगी शल्य कर्म के पश्चात् वर्षों तक जीवित रहे। इंगलैंड में लारेंस ओशाघहेंसी नामक चिकित्सक ने एक नयी बात की। अंत्र प्रदेश का भाग अधिक सुन्दर तथा रक्त नलिका युक्त होता है। उस भाग से कटा अंश हृदय में पेवंद लगाने पर अधिक सफलता की आशा की जा सकती थी। पहले दौड़ के कुत्ते पर यह प्रयोग किया गया जिसमें सफलता मिली।

उदर के शल्य कर्म के प्राचीन उदाहरणों के सम्बन्ध में कुछ विश्वासपूर्वक कह सकना कठिन नहीं है, परन्तु लिस्टर की विकृति-हारी शल्य विधि का ज्ञान हुए बिना ऐसे शल्य कर्म में हाथ लगाने

का किसी शल्य चिकित्सक को साहस ही नहीं हो सकता था। १८०६ ई० में उदर के एक शल्य कर्म का उदाहरण अवश्य पाया जाता है जिसे इफ्रायम मेकाडोवेल नामक शल्य चिकित्सक ने किया था। उसने एक अधेड़ महिला के उदर को चीर कर एक भारी मसे को काट फेका था। इस शल्य कर्म के ३० वर्षों बाद तक भी वह महिला जीवित रही। किंतु जर्मनी के शल्य चिकित्सक बिलराथ को उदर शल्य कर्म का विशेष प्रचार करने का श्रेय दिया जा सकता है। उसके पिता की मृत्यु उदर रोग से हुई थी। कोई भी चिकित्सक उसको उदर के शल्य कर्म में कोई सहायता या प्रोत्साहन नहीं दे सकता था। उसने शल्य चिकित्सा की शिक्षा प्राप्त कर उदर के शल्य कर्म का अनुभव प्राप्त करने का उद्योग किया। वह लिस्टर का समकालीन था। आज बिलराथ की उदर शल्यचिकित्सा विधि इस साहसी शल्य चिकित्सक का यश उसके नाम को स्थायी कर प्रसारित कर रही है। इस पद्धति में उदर के विकृत अंग काट फेंके जाते। अमेरिका के शल्य चिकित्सक चार्ल्स मेकवर्नी ने वृहद् अंत्र शूल (एपेंडेसाइटीज) को दूर करने के लिए उस अंग को शल्य कर्म का प्रचार कर एक भयानक उदर शूल रोग से संसार को मुक्ति पाने का मार्ग दिखाया। इंगलैंड में जब सम्राट सप्तम एडवर्ड अंत्र शूल से मरे जा रहे थे, उस समय पर फ्रेडेरिक ट्रेवीज ने अंत्र का शल्य कर्म कर उन्हें जीवित ही नहीं किया, प्रत्युत शल्य कर्म के प्रचार का भारी उदाहरण उपस्थित किया। वीयना के शल्य-विज्ञान के प्रोफेसर फिन्स्टरर ने उदर शल्य कर्मों में केवल स्थानीय रूप में संज्ञाहरण औषधियों के प्रयोग का प्रचार कर रोगी को भारी आशंका के अनुभव से बचाने की युक्ति की। अन्य शल्य चिकित्सकों ने भी उदर के शल्य कर्मों को सुन्दर रूप देने तथा प्रचारित करने में योगदान किया। उन सब की चर्चा यहाँ संभव नहीं है। फलतः आज उदर का

कोई भी ऐसा अंग नहीं जिसका सफलतापूर्वक शल्य कर्म कर विकृत अंश काट फेंकना सम्भव न हो। अन्य सभी भागों की अपेक्षा उदर की ही शल्य क्रिया का सबसे अधिक प्रचार पाया जाता है। बल्कि आज अनेक आवश्यक शल्य कर्म भी होते पाये जाते हैं जहाँ औषधियों के प्रयोग से ही रोग दूर करना सम्भव होता।

गर्भाशय का शल्य कर्म प्राचीन समय में भी होने की बात मानी जाती है। शिशु या किसी विजातीय वृद्धि प्राप्त पदार्थ को निकालने के लिए गर्भाशय का शल्य कर्म होता। किंतु मृत्यु की आशंका अधिक रहती। बच्चा जीवित रहने पर भी माता कदाचित् ही जी सकती। किंतु आज ऐसे शल्य कर्म पूर्ण सुरक्षित बने कहे जा सकते हैं। पहले जहाँ सत्तर प्रतिशत माताओं की मृत्यु हो जाती, वहाँ आज पाँच प्रतिशत भी कदाचित् ही मृत होती हैं।

मूत्राशय से पथरी निकालने की विधि भी आज अत्यन्त उन्नत बन चुकी है। आज शरीर का कोई अंग चीरने-फाड़ने की आवश्यकता नहीं होती। विशेष यंत्रों को प्रकाश के प्रबन्ध युक्त मूत्र नली में प्रवेश कराकर पथरी थोड़ा-थोड़ा तोड़कर चूर्ण बना दी जाती है और केवल साधारण धोने की क्रिया द्वारा बाहर बहा दी जाती है। मूत्र नली के फटे होने पर उसकी सिलाई करने की कुशलता अमेरिका के शल्य चिकित्सक केली ने प्रदर्शित की।

शरीर के जोड़ों की शल्य क्रिया कम महत्व की नहीं है। सुन्न हुई मांसपेशियाँ नये स्नायुओं के संयोग से क्रियाशील बना देना संभव है। कठोर जोड़ों को हटाकर नये लचीले जोड़ का पेवंद लग सकता है। एक अंग की हड्डी काटकर दूसरे अंग की हड्डी में पेवंद लगाने में प्रयुक्त की जा सकती है। यह सब आज के शल्य-विज्ञान का परिणाम है।